TATVA-BODH (ESSAYS)

By ACHARYA MAHAPRAGYA

ISBN 81-86326-00-177

प्रकाशक राजस्थान पत्रिका

केसरगढ, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,

जयपुर - 302 004 (भारत)

फोन 91-141-2561582 (7 लाइनें)

फैक्स 91-0141-2566011

ई-मेल info@rajasthanpatrika com

प्रतिलिप्याधिकार राजस्थान पत्रिका, जयपुर

संस्करण द्वितीय 2007

मूल्य एक सौ पचास रुपये मात्र

मुद्रक पॉपुलर प्रिन्टर्स, जयपुर-4

सरोकार

आज देश में धर्म की दुर्गति हो
रही है। धर्मों ने धर्म को बुद्धि के बजाय
बंधन का कारण बना दिया है। कट्टरवाद
गहराता जा रहा है। धर्म का व्यावहारिक पक्ष
सुप्त होता जा रहा है। ऐसे वातावरण में आचार्य
महाप्रज्ञ का "धर्म-बोध" एक अनूठा कार्य है।
आपने जाति-धर्म से ऊपर उठकर मानव जाति
के उत्कृष्ट चिंतन का स्वरूप प्रस्तुत किया है
जो कि नितान्त व्यावहारिक है। आज के
वैज्ञानिक युग में धर्म को विज्ञान सम्मत
आयाम देने का प्रयास है।

आचार्य महाप्रज्ञ की विशेषता इस में
समाहित है कि वे जैन धर्म होकर भी किसी
को जैन बनाने के लिए आग्रह नहीं करते।
उन्होंने महावीर को जैन समाज उसे वर्तमान

समाज की आधार में प्रस्तुत करने का कार्य किया है। समाज के किसी तीर्थंकर को खोजने का प्रयत्न भी नहीं किया। एक शुद्ध साहित्य के रूप में त्रिभुवन-नगर करके विभिन्न भागों का निर्देश भी इसमें समाहित किया गया है। आचार्य जिनमण्डनगणि की उत्कृष्टता का यह भी प्रमाण रहा है कि पाण्डुलिपि अनुष्ठान करना भी आवश्यक संस्कृत तत्त्वाख्यान में ग्रन्थ का निर्माण करते हैं। पूज्य सन्त आचार्य महाप्रज्ञ अहिंसा-यात्रा के नायक भी हैं और उन्होंने पाँच हजार कि मी की यात्रा करके देश के सामने सामाजिक सौहार्द का नया आयाम प्रस्तुत किया है।

जीवन का एक पर्याय है संस्कार। संस्कार के बिना जीवन की कोई गतिविधि सार्थक पूर्ण नहीं हो सकती। राजस्थान पत्रिका भी राज्य

सामाजिक लोकाचार का एक प्रमुख कारण है। इसके पीछे हमारी अवधारणा है — लोगों का देश से जुड़ाव। यह क्रम तब पूरा होगा जब व्यक्ति पहले स्वयं से जुड़ेगा। इसके बिना किसी से नहीं जुड़ सकता। तन्त्र-बोध व्यक्ति को अन्तर्दृष्टि देता है। स्वयं को खोजने का मार्ग प्रशस्त करता है। अतः इसे उपयोगी साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।

तन्त्र-बोध के सन्दर्भ में अनेक पाठकों के पत्र आये हैं। इसे ग्रन्थ रूप में प्राप्त करने की जिज्ञासा को देखकर ही पत्रिका प्रकाशन ने यह कार्य हाथ में लिया है। आचार्य मधुसूदन के जन्म दिवस के उपलक्ष में आज यह पुस्तक पाठकों को सादर समर्पित है। आशा है पुराने पाठकों को इसका लाभ अवश्य मिलेगा। इसी मंगलकामना के साथ - सादर -

जयपुर
२३.०६.०६

(गुलाब कोठारी)
सम्पादक–राजस्थान पत्रिका

अनुक्रम

1

अपने आपको देखें-1

आध्यात्मिक होने का अर्थ हे अपने आपको देखना। दुनिया में सबसे जटिल काम हे अपने आपको देखना। हमारी एक ऐसी प्राथमिक सरचना हो गई है कि हमारा ध्यान अपनी ओर नहीं जाता, दूसरो की ओर अधिक जाता हे।

'अपने आपको देखना'—यह शव्द बहुत पुराना हे। अध्यात्म के लोगो ने इसका वहुत उच्चारण किया हे। प्रश्न हे अपने आपको देखने का क्या अर्थ हे? उसकी कोई स्पष्ट भाषा नहीं हे। किसको देखना है? शरीर को हर आदमी देखता ह। एक डॉक्टर शरीर को वहुत अच्छी तरह जानता हे।

शरीर के अवयवो ओर कार्यो को जानना एक वात ह ओर उसे देखना अलग बात हे। डॉक्टर जितना रोगी के शरीर को देखता हे, उतना शायद अपने शरीर को नहीं देखता। केवल शरीर को देखना, उसके क्रियाकलापो को जानना चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो सकता ह। अध्यात्म मे अपने आपको देखने की परिभाषा सर्वथा नई ओर विलक्षण ह। प्रेक्षाध्यान के सदर्भ मे अपने आपको देखने का अर्थ हे—अपने सुख-दु ख को देखना। अपने सुख को देखना ओर अपने दु ख को देखना। ये इतनी साफ चीजे हैं कि हर आदमी इन्हे देखता है, भोगता ह। देखता कम है, भोगता ज्यादा है। या तो सुख को भोगता हे या दु ख को भोगता हे। बस दोनो के भोग मे ही जीवन चल रहा है।

हमारे जीवन की सरिता के दो तट वने हुए हें। एक ओर सुख का तट, दूसरी ओर दु ख का तट। वह कभी इस तट को छूता हे ओर कभी उस तट को। कभी इधर मुडता हे और कभी उधर। कभी सुख का अनुभव होता है और कभी दु ख का। इस सुख-दु ख के चक्र की ओर ध्यान केन्द्रित करने का अर्थ है—सुख और दु ख के नियम को देखना।

'अपने आपको देखना', इसका दूसरा अर्थ हे—स्वय को देखना। सुख और दु ख का मूल कारण क्या हे? उसका स्वरूप क्या है? उस कारण की खोज करने का अर्थ है अपने आपको देखना।

जैन दर्शन के अनुसार सुख का कारण है सातवेदनीय कर्म और दु ख का कारण है असातवेदनीय कर्म। जो व्यक्ति प्राणी मात्र के प्रति करुणा का भाव रखता है, करुणा का व्यवहार करता है, उसके सातवेदनीय कर्म का बध होता है और वह सुख का

अनुभव करता है। जो व्यक्ति प्राणी मात्र के प्रति क्रूर व्यवहार करता है, कठोर व्यवहार करता है, उसके असातवेदनीय कर्म का बध होता है और वह दु·ख का अनुभव करता है। यह दार्शनिक दृष्टिकोण है सुख और दु.ख के मूल कारण का। करुणा होना, दूसरो के प्रति कोमल व्यवहार करना, मृदु व्यवहार करना—यह सुख का मूल कारण है। दूसरे के साथ अन्यायपूर्ण और कठोर व्यवहार करना—यह दु ख का मूल कारण है। जब इस बात को आदमी देखेगा, इस पर ध्यान केन्द्रित करेगा तो क्रूरता से बचना चाहेगा और करुणापूर्ण व्यवहार को पहला स्थान देगा, क्योकि उसे दु.खी नहीं बनना है। दु खी नहीं बनना है तो क्रूरता को त्यागना ही होगा।

हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करे। विज्ञान के अनुसार हमारे मस्तिष्क मे बहुत प्रकार के रसायन होते हैं। हमारे प्रत्येक व्यवहार और आचरण के पीछे एक रसायन होता है, एक प्रकार का न्यूरोट्रासमीटर होता है। सुख का रसायन भी मस्तिष्क मे है और दु.ख का रसायन भी मस्तिष्क मे है। जब-जब आदमी अच्छे विचार करता है तब-तब सुख के रसायन का स्राव होता है। जब-जब वह बुरे विचार करता है तब-तब दुःख के रसायन का स्राव होता है। सुख का कारण है—अच्छा विचार और दु ख का कारण है—बुरे विचार।

सुख-दु ख को देखना और सुख-दु·ख के कारण को देखना ही अपने-आपको देखना है। जो व्यक्ति सुख-दु ख के रहस्य को नहीं जानते, सुख-दु ख के आध्यात्मिक और वैज्ञानिक कारणो को नहीं जानते वे समस्या का समाधान नहीं कर सकते। जो अपने आपको नहीं देखता, वह न क्रूरता को छोड़ सकता है, न अन्याय को छोड सकता है और न दूसरो को धोखा देने के आचरण को छोड सकता है। जिन लोगो ने अपने आपको देखना शुरू किया है वे ही इन बुराइयों से बच पाए हैं, अन्यथा सम्भव नहीं है।

अपने आपको देखने का एक अर्थ है—विचारो को देखना। विचार की प्रेक्षा करे। कौन सा विचार मस्तिष्क मे दौड रहा है। प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग है—विचार-प्रेक्षा। जैसे श्वास-प्रेक्षा मे श्वास को देखते हैं, शरीर-प्रेक्षा मे शरीर को देखते हैं, वैसे ही विचार-प्रेक्षा मे विचार को देखते हैं। हम विचारो को देखना शुरू कर दे तो एक चमत्कार जैसा हो जाता है। विचार-प्रेक्षा के दो परिणाम होते हैं—विचार आने बंद हो जाते है। बुरे विचार नहीं आते। जो विचार आ रहा है, उसे देखना सीखे। अच्छा विचार आ रहा है तो उसे देखे और बुरा विचार आ रहा है तो उसे भी देखे। जब आदमी विचारो को देखना शुरू करता है तब विचार के कारण को भी देखना शुरू कर देता है। जब तक व्यक्ति विचार को देखता नहीं है तब तक विचार का कारण पकड में नहीं आता। जानता है कि विचार आ रहा है। कभी मन में वचना का विचार आ जाता है, कभी आत्महत्या

का विचार भी आता है, कभी परहत्या का विचार भी आ जाता है, कभी चोरी का विचार आ जाता है, कभी डकैती का विचार आ जाता है, कभी किसी को सताने का विचार आ जाता है। ये सारे बुरे विचार हैं। कभी अच्छे विचार भी आते है। कभी भलाई का विचार आता है, किसी का अच्छा काम करने का विचार आता है। केवल बुरे विचार ही नहीं आते, अच्छे विचार भी आते हैं। जो भी विचार आए, अच्छे आए या बुरे आए, उन विचारो को देखना शुरू करे, विचार का प्रवाह थम जाएगा।

सुख और दु ख के साथ भी विचार का सम्बन्ध है। सुख-दु ख को देखने का अर्थ है विचार को देखना। इस सुख के पीछे कौन-सा विचार काम कर रहा है ? इस दु ख के पीछे कौन-सा विचार काम कर रहा है ? कभी-कभी अनुकूल स्थिति में भी बहुत बुरी कल्पना आने लग जाती है, भविष्य अधकारमय दिखाई देता है। कभी प्रतिकूल स्थिति मे भी अच्छे विचारो का स्रोत बहता है, अपना भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है।

बहुत जटिल है विचार का जगत और बहुत जटिल है विचारो को देखना—अच्छे विचार को देखना और बुरे विचार को देखना। आत्मनिरीक्षण या अपने आपको देखने का काम यहीं समाप्त नहीं होता। इससे और आगे जाए, चितन करे—विचार बुरा क्यो आता है ? विचार अच्छा क्यो आता है ? उसके मूल को देखे, उसके मूल को खोजे। सुख-दु ख का मूल है अच्छा अथवा बुरा विचार। अच्छे-बुरे विचार का मूल है अच्छा अथवा बुरा भाव। हमारा भाव कैसा है ? अगर अच्छा भाव भीतर काम कर रहा है तो अच्छा विचार आएगा। यदि भीतर में बुरा भाव काम कर रहा है तो बुरा विचार आएगा।

2

अपने आपको देखें-2

ध्यान का अर्थ है—स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। जो आदमी स्थूल पर अटक जाते हैं वे ध्यान का लाभ नहीं उठा पाते। ध्यान का मूल सूत्र है—स्थूलात् सूक्ष्म·—स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। सुख की अनुभूति स्थूल है। विचार उससे सूक्ष्म है और भाव विचार से भी सूक्ष्म। यह हमारा भीतर का जगत है, अन्तर का जगत है।

अध्यात्म के आचार्यों ने सूक्ष्म मे जाने की बहुत प्रशस्त प्रक्रिया प्रस्तुत की, किन्तु कुछ व्यवधान ऐसा आया कि वह प्रक्रिया छूट गई। जब से मनोविज्ञान का विकास हुआ है तब से सूक्ष्म जगत मे जाने का द्वार खुल गया। वैज्ञानिको ने धर्म और धार्मिको का बहुत बड़ा उपकार किया है। मनोविज्ञान ने अवचेतन और अचेतन मन मे जाने का दरवाजा खोला। इसके आधार पर व्यक्तित्त्व का विश्लेषण शुरू किया तो जाने-अनजाने सूक्ष्म में प्रवेश का दरवाजा खुल गया। वर्तमान मे जीने वाला, वर्तमान से परिचित होने वाला और वर्तमान की व्यावहारिक पद्धतियो का चिन्तन करने वाला कोई भी व्यक्ति केवल स्थूल जगत को आधार मानकर समस्या का समाधान नहीं कर सकता। सूक्ष्म जगत में प्रवेश करने वाला ही समस्या को समाहित कर सकता है।

भाव जगत हमारा सूक्ष्म जगत है। भाव और सुख-दु ख के सम्बन्ध को इस भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है—जैसा भाव वैसा विचार और जैसा विचार वैसा सुख-दु ख का अनुभव। विचार का मूल कारण है भाव। अच्छा भाव होता है तो अच्छा विचार आता है। बुरा भाव होता है तो बुरा विचार आता है। हमारे विचारो पर नियत्रण कौन कर रहा है? कभी अकस्मात् बुरा विचार आ जाता है। कभी अकस्मात् अच्छा विचार आ जाता है। ऐसा क्यो होता है? विचार का स्रोत कहाँ है? अचानक विचारो मे परिवर्तन क्यो आ जाता है? हमारी दुनिया मे आकस्मिकता नहीं है। हमारी दुनिया के बहुत सारे नियम हैं, नियति है। जो दौड हो रही है, वह कोई आकस्मिकता नहीं है। बुरे विचार के पीछे निषेधात्मक भाव काम कर रहा है। अच्छे विचार के पीछे विधायक भाव काम कर रहा है। बुरे विचार को बुरा भाव जन्म दे रहा है और अच्छे विचार को अच्छा भाव जन्म दे रहा है।

इस सदर्भ मे अपने आपको देखने का मतलब है—अपने भाव को देखना। हम गहराई से देखे कि कौन-सा भाव काम कर रहा है। जैसे-जैसे प्रेक्षा का अभ्यास बढ़ता चला जाता है, हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चले जाते है। पहले स्थूल प्रकम्पनो को

पकडते हैं, फिर सूक्ष्म प्रकम्पनो को पकडते है, सूक्ष्मतर प्रकपनो को पकडने लग जाते हैं और आगे बढते-बढते सूक्ष्मतम प्रकम्पनो को पकडने लग जाते है। भाव हमारा सूक्ष्म प्रकम्पन है। उस जगत मे जाकर हम देखते हैं तो हमे इस यथार्थ का अनुभव होता है-यह बुरा भाव पैदा हुआ और इससे यह विचार बुरा बना है। इस साक्षात्कार से बहुत सारी समस्याओ का समाधान मिल जाता है, बहुत सारी स्थितिया सरल बन जाती हैं, अपने आपको समझने का, अपने व्यक्तित्त्व को समझने का एक अमोघ अवसर मिल जाता है।

अपने आपको देखने का एक अर्थ है-अपने आचरण को देखना। मै कैसा आचरण कर रहा हूँ? अच्छा कर रहा हूँ या बुरा कर रहा हूँ?

अपने आपको देखने का एक अर्थ है-अपने व्यवहार को देखना। मैं कैसा व्यवहार कर रहा हूँ? अच्छा कर रहा हूँ या बुरा कर रहा हूँ? व्यवहार दूसरो के साथ होता है और आचरण अपने तक सीमित रहता है। आचरण मे दूसरे की जरूरत नहीं होती, वह अपने तक सीमित हो जाता है।

सुख-दु ख की अनुभूति, आचरण और व्यवहार-ये हमारे स्थूल जीवन में घटित होने वाली घटनाए हैं। हर आदमी समझता है कि मैं कैसा आचरण कर रहा हूँ। जो नशे मे चला जाता है या जिसने मादक वस्तु के द्वारा अपने ज्ञान तन्तुओ को मूर्च्छा मे धकेल दिया है उन व्यक्तियो की बात छोड दे। बाकी हर आदमी जानता है कि मै कैसा आचरण और कैसा व्यवहार कर रहा हूँ। जो आदमी मूर्च्छा अथवा नशे मे होता है वह अपने आचरण और व्यवहार पर ध्यान नहीं देता। प्रत्येक जागरूक आदमी अपने आचरण को भी देखता है, अपने व्यवहार को भी देखता है।

सुख और दु ख-यह एक जोडा है। अच्छा और बुरा आचरण-यह दूसरा जोडा है। अच्छा और बुरा व्यवहार-यह तीसरा जोडा है। ये हमारे स्थूल जीवन मे घटित हो रहे हैं। इससे आगे इनका मूल कारण खोजे तो विचार और भाव आते हैं। विचार थोडा-सा सूक्ष्म हो जाता है और भाव सूक्ष्मतर। इन युगलो को देखने का मतलब है अपने आपको देखना। इस विश्लेषण से देखने की बात स्पष्ट हो जाती है। किसी से कहा जाए कि अपने आपको देखो, तो वह क्या देखेगा? अमूर्त को हर आदमी पकड नहीं सकता इसीलिए मूर्त का विकास हुआ। आदमी मूर्त बात को पकड लेता है। अमूर्त को समझ नहीं सकता। जब तक मूर्तीकरण न हो जाए तब तक बात स्पष्ट नहीं होती। यह एक मूर्तरूप है, अपने आपको देखने का।

जो व्यक्ति अपने आपको नहीं देखता, अपना निरीक्षण नहीं करता, केवल दूसरो को देखता है वह समस्याओ को निमत्रण देता है। वर्तमान की समस्याओं का यदि तटस्थ विश्लेषण किया जाए तो निष्कर्ष आएगा-बहुत सारी समस्याए पर-दर्शन से उपजी हुई

है। जो आदमी अपने आपको नहीं देखता, फिर उसे दूसरे देखते हैं, वह दूसरों के द्वारा नियंत्रित होता है।

नशा करने वाले सारे मूर्ख नहीं होते। समझदार लोग भी नशा करते हैं और इसलिए करते हैं कि जब समझदारी तनाव मे बदल जाती है तब उन्हे नशा करने के सिवाय कोई उपाय नहीं सूझता। वह अपने आपको भुलाना चाहता है। अपने आपको भुलाए बिना तनाव का विसर्जन नहीं होता। अपने आपको भुलाने के दो ही उपाय हैं—ध्यान और नशा। आदमी दिमाग को खाली करना चाहता है, पर विचारो का चक्का चलता रहता है। इस चचलता को मिटाने के भी ये दो ही उपाय हैं।

हमारे जीवन की सफलता और विफलता का यह बहुत बडा सगम-बिन्दु है। सफलता का सूत्र है—अपने आपको देखना और विफलता का सूत्र है—अपने आपको न देखना। दोनो धूप और छॉव की तरह सटे हुए हैं पर मिलते नहीं हैं। क्या आपने कभी धूप और छॉव को मिलते हुए देखा है ? धूप छॉव से सटी हुई हैं, किन्तु क्या कभी धूप छॉव की सीमा मे गई है अथवा कभी छॉव धूप की सीमा मे आई है ?

आचार्य भिक्षु ने हिसा-अहिसा के सदर्भ मे मार्मिक उदाहरण दिया। हिसा और अहिसा दोनो सटे हुए हैं, पर दोनो अलग-अलग हैं। हिसा और अहिसा मे मिश्रण नहीं होता। धूप और छाव की भॉति जीवन में हिसा और अहिसा दोनो बिल्कुल सटे हुए हैं, किन्तु इनमे कभी मिश्रण नहीं होता। ठीक इसी प्रकार अपने आपको देखना और अपने आपको न देखना—ये दोनो प्रवृत्तियॉ सटी हुई है, पर कभी मिलती नहीं हैं।

जिन-जिन लोगो ने अपने आपको देखना सीखा है, वे आध्यात्मिक बने है और उन्होने अपनी समस्याओ का सहज समाधान प्राप्त किया है। जिन लोगो ने अपने आपको देखना नहीं सीखा, वे मकडी की भॉति अपने ही जाल मे उलझते चले जाते है। उनकी समस्याओ का कभी अत ही नही होता। भौतिक समस्या हो या आर्थिक समस्या, सामाजिक समस्या हो या राजनीतिक समस्या, व्यक्तिगत समस्या हो या पारिवारिक समस्या, उसका समाधान सरल नहीं है। दुनिया मे भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार की समस्याए है। बाह्य जगत मे होने वाली समस्याए भौतिक हैं और अपने भीतर मे होने वाली समस्याएं आध्यात्मिक। उन दोनो प्रकार की समस्याओ का समाधान पाने के लिए अपने आपको समझना और अपने आपको देखना बहुत जरूरी है।

32

ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान

ज्ञान के बाद दूसरा शब्द है—विज्ञान। विवेक करे, हेय और उपादेय का विवेक करे। कौन-सा काम मेरे लिए हितकर होगा और कौन-सा काम मेरे लिए अहितकर होगा, यह विज्ञान करो। फिर विवेचन और विश्लेषण करो कि कितना जीना है? यह जीवन छोटा है और भविष्य बहुत लम्बा है। ज्यादा से ज्यादा नब्बे, सौ अथवा एक सौ पच्चीस वर्ष तक चला जाता है। कोई-कोई व्यक्ति 150 की अवस्था को पार कर लेता है। कितना छोटा जीवन है?

एक शक्तिमाता अपने भक्त पुत्रो को बार-बार कहती है कि तुम लोग इस छोटे से जीवन के लिए ज्यादा कर्म-बध मत करो। तुम्हारा आगे का जीवन बहुत बड़ा है। बड़े जीवन के लिए छोटे जीवन मे तुम ऐसा कोई भी काम मत करो, जिससे कर्म का बध हो। लोग जाते है उनसे मागने के लिए कि कुछ मिल जाए। वह शक्ति कहती है कि ये चीजे मत मागो। यह बहुत छोटी बात है। बस तुम यही याचना करो कि तुम्हारा अगला जीवन अच्छा कैसे बने? पवित्र कैसे बने? सुखी कैसे बने?

जिस व्यक्ति मे यह विवेक आता है, वह प्रत्याख्यान और निवृत्ति की ओर जाता है। व्यक्ति कर्म का बन्धन तो कर लेता है, किन्तु उसे भोगना बडा कठिन होता है। प्रत्येक व्यक्ति मे यह विवेक जाग जाए कि कोई ऐसा काम न करूँ जिससे चिकने कर्मों का बध हो।

प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ कर्म बधता है। एक कर्म रूखा होता है और एक कर्म चिकना। रूखा कर्म सूखी हुई बालू की तरह है। भींत पर बालू डालते ही नीचे गिर जाएगी। चिकना कर्म चिकनी मिट्टी के गोले की तरह भीत पर चिपक जाएगा। हमारा कर्म चिकना न हो। किसी भी प्रवृत्ति के साथ गहरी मूर्च्छा और आसक्ति न हो, जिससे कि बधन गाढा हो जाए और उसका परिणाम बडा जटिल बन जाए। जिस व्यक्ति मे यह विवेक जाग जाता है, वह कर्म का बधन नहीं करता, प्रत्याख्यान की दिशा में अग्रसर हो जाता है।

पुनर्जन्म का ज्ञान यानी भावी जन्म का ज्ञान, कर्म बन्ध और कर्म विपाक का ज्ञान होता है तो यह विवेक जागता है कि मै मनुष्य बन गया हूँ। विकास की सीमा पर पहुच गया हूँ। मनुष्य होना विकास का शिखर है। जो मनुष्य के जन्म में किया जा सकता है वह न देवता के भव मे किया जा सकता है, न नरक योनि और तिर्यञ्च योनि में किया जा सकता है। मनुष्य जीवन मे ही उत्कृष्ट विकास के शिखर पर पहुचा जा सकता है। उसके बाद कम से कम ह्रास न हो। मनुष्य से नीची गति में न जाए, तिर्यञ्च मे न जाए,

नरक मे न जाए। जिसमे यह विवेक जग जाता है कि मुझे ह्रास नही करना है, वह ज्ञान, विज्ञान की सीमा के आगे प्रत्याख्यान की भूमिका तक पहुच जाता है।

निवृत्ति की बात सरल नहीं है। प्रवृत्ति की बात सरल है। आदत भी बहुत सहज पड जाती है। उससे छोटे बच्चों को बिगडने का मौका मिलता है। छोटा बच्चा देखकर सीखता है। वह दूसरे को देखता है, नकल करता है। वह अनुकरण से सीखता है। एक व्यक्ति को पानी पीते देखा, पानी पीना सीख गया। कैसे चलते है, चलते देखा, चलना सीख गया। कैसे बोलते हैं, बोलते देखा, बोलना सीख गया। वह माता-पिता को, परिवार के वातावरण को देखता है और देखकर सीखता चला जाता है। हर बात को सीखता है। बच्चे में प्रारम्भ मे इतना ज्ञान नही होता। देखते-देखते वह सीखता जाता है।

पिता झूठ बोले और यह चाहे कि बच्चा झूठ न बोले, यह कैसे सम्भव हो सकता है? पिता गालिया दे और बच्चा गालिया न सीखे, यह कैसे सम्भव होगा? पिता जर्दा खाए, गुटखा खाए, सिगरेट पीये और बच्चा न सीखे, यह कैसे सम्भव होगा? बच्चा तो अनुकरणप्रिय है, वह सब कुछ सीखेगा। बच्चो में आदते कौन डालते हैं? अभिभावक डालते हैं। माता-पिता तथा परिवार के बडे लोग डालते है।

जो व्यक्ति यह चाहते हैं हमारा परिवार अच्छा रहे, चरित्रवान रहे, वे प्रारम्भ से ही जागरूक रहते है कि बच्चो के सामने ऐसा काम न करे, जिससे बच्चो में गलत आदतें पड जाए। जिस व्यक्ति का और जिस समाज का चरित्र अच्छा नहीं होगा वह समाज कभी उन्नति नहीं कर सकेगा। उन्नति कर भी लेता है तो चरित्र के अभाव मे फिर नीचे गिर जाता है। जो व्यक्ति चरित्र-सम्पन्न नहीं होता वह दूसरों के चरित्र को भी नष्ट कर देता है।

निवृत्ति के बिना चरित्र का विकास नहीं होता। जब तक अस्वीकार की शक्ति, सकल्प की शक्ति नहीं आती, तब तक चरित्र का विकास नहीं होता, निवृत्ति का मार्ग सरल नहीं है। निवृत्ति से पहले आवश्यक है ज्ञान। ज्ञान के बाद आवश्यक है—विज्ञान। जब विज्ञान ठीक होता है तब प्रत्याख्यान अथवा निवृत्ति की बात आती हैं।

बहुत लोग पूछते हैं कि वह आदमी इतना जानता है पर आचरण नहीं करता। जानता है, ज्ञान है पर कथनी करनी में एकता नहीं है। कारण साफ है—कोरा ज्ञान है, ज्ञान और आचरण के अतराल में जो चाहिए, वह विज्ञान बहुत कम है। पढ़े-लिखे मूर्खों की दुनिया में कमी नहीं है। इसलिए नहीं है कि उनमे विज्ञान नहीं जागा।

ज्ञान की चेतना, विज्ञान की चेतना और प्रत्याख्यान की चेतना—ये तीनों चेतनाए साथ-साथ जागें, तब जीवन सफल बनता है। वह समाज, वह व्यक्ति, वह राज्य उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है जहा के नागरिकों में तीनो प्रकार की चेतनाए जाग जाती हैं। ज्ञान, विज्ञान और प्रत्याख्यान की चेतना के अभाव में निवृत्ति का मार्ग उपलब्ध नहीं हो सकता। जिसमें ज्ञान, विज्ञान और प्रत्याख्यान की चेतना जाग जाती है, उसे निवृत्ति का मत्र उपलब्ध हो जाता है।

33

मूर्च्छा का चक्र

बहुत लोग प्रश्न पूछते हैं कि धर्म ने क्या दिया ? धर्म मुझे क्या देगा ? धर्म धन नहीं देगा, पदार्थ का ढेर नहीं लगाएगा; किन्तु आपको जीवन का वह सूत्र देगा जिसके द्वारा आप अच्छा जीवन जी सकते है और अपनी स्वतंत्रता को बहुत सुरक्षित बना सकते हैं। यह स्वतत्रता का मार्ग समझ मे आ जाए तो व्यक्ति पूर्ण स्वतत्रता का जीवन जी सकता है।

धर्म के अनेक अवदान हैं। उसका एक महत्त्वपूर्ण अवदान है कि उसने मनुष्य को स्वामी बनना सिखाया। प्रत्येक व्यक्ति स्वामी बनना चाहता है, सेवक नहीं बनना चाहता। किन्तु, न चाहते हुए भी वह सेवक बन जाता है। धर्म ने उस तत्त्व को पकडा जो न चाहने पर भी आदमी को सेवक बना देता है, अनुगामी बना देता है। धर्म ने उस तत्त्व की भी खोज की कि आदमी स्वामी कैसे बन सकता है। यह धर्म की एक बहुत बडी खोज है, बहुत बडा अवदान है।

दुनिया मे दो तत्त्व है—पदार्थ और उपभोक्ता। उपभोक्ता का जीवन पदार्थ पर आश्रित है। जहा दो का सम्बन्ध है, वहा पदार्थ पदार्थ है और उपभोक्ता उपभोक्ता। उनमे स्वामी सेवक का कोई सम्बन्ध नहीं है, दोनो स्वतंत्र हैं। किन्तु, उपभोक्ता और पदार्थ के बीच एक तीसरा तत्त्व पनपा और स्वामी सेवक का सम्बन्ध जुड गया। उस तत्त्व की खोज धर्म ने की। वह तत्त्व है—मूर्च्छा। एक ओर उपभोक्ता दूसरी ओर पदार्थ, बीच मे है मूर्च्छा। यह सारा मूर्च्छा का चक्र है। वह किसी को सेवक बना देती है और किसी को स्वामी। मूर्च्छा दोनो के बीच मे काम कर रही है। यदि मूर्च्छा के द्वारा सम्बन्ध स्थापित न हो तो कोई समस्या नहीं है। जब तक उपभोक्ता और पदार्थ स्वतंत्र रहे, समस्याए पैदा नहीं हुई।

काल के इस चक्र के प्रारभ के यौगलिक युग मे युगल होते थे। वे अपना सहज जीवन चलाते थे। उनमे मूर्च्छा शान्त थी। मोह कम था, उपशान्त था। इसलिए केवल पदार्थ और उपभोक्ता का ही सम्बन्ध था। फलस्वरूप न संग्रह होता, न चोरी-डकैती होती, न छीना-झपटी होती, कुछ भी नहीं होता। सब अपने-आप मे मस्त रहते। न लडाई, न झगडा, न सघर्ष, न गाली-गलौज। न न्यायालय होता, न कोई न्यायाधीश होता और न कोई केस चलता। कुछ भी नहीं था। जब आवश्यकता होती, केवल पदार्थ का उपयोग करते। उपभोक्ता अपने मे और पदार्थ अपने मे। जहा उपभोक्ता और पदार्थ दो होते है, वहा केवल आवश्यकता की पूर्ति रहती है। केवल उपयोगिता और केवल

आवश्यकता की पूर्ति, बस इतना ही पदार्थ का काम रहता है, और कोई काम नहीं रहता। इस अवस्था मे व्यक्ति पूरा स्वतत्र था, उसका अपना स्वामित्व था, वह किसी के अधीन नहीं था। युग बदला, कई युग-सन्धिया आई, सक्रमण काल आए, मूर्च्छा पनपने लगी।

अज्ञानी रूपी मूर्च्छा का एक रूप हे क्रोध, दूसरा रूप है अभिमान, तीसरा रूप है प्रवंचना, माया और चोथा रूप है लोभ। मूर्च्छा के ये सारे रूप विकसित होने लगे। फिर, इन्होने घृणा, ईर्ष्या, द्वेष—इन सबको जन्म दिया। मूर्च्छा का परिवार बढने लगा। इस स्थिति मे पदार्थ मात्र उपयोगी नहीं रहा, आवश्यकता की पूर्ति करने वाला नहीं रहा। पदार्थ का स्वरूप वदल गया। पदार्थ सग्रहणीय वन गया। सग्रह का प्रारम्भ हुआ। जहा सग्रह हुआ वहा विपमता वढी, छीना-झपटी शुरू हुई। चोरी-डकेती बढी, आवेश वढा, ईर्ष्या वढी। इस प्रकार मूर्च्छा का विस्तार होता गया।

धर्म ने इस सचाई को व्यक्त किया—मूर्च्छा के वढने पर उपभोक्ता केवल उपभोक्ता नहीं रहता आर पदार्थ केवल पदार्थ नहीं रहता। उपभोक्ता सेवक वन जाता हे ओर पदार्थ उसका स्वामी वन जाता है। यह स्वामी वनने की स्थिति आ गई। आश्चर्य की वात है कि जड-वस्तु स्वामी वन जाए ओर चेतन तत्त्व उसका सेवक। यदि हम मुक्तभाव से अनुसधान करे तो पता चलेगा कि छह अरव से ज्यादा जनसख्या वाली इस पृथ्वी मे सेवक कितने हें आर स्वामी कितने ?

उपभोक्ता ओर पदार्थ वेसे दोनो वरावर ह, किन्तु जो व्यक्ति पदार्थ को ही सब कुछ मानकर चलता है वह पदार्थ का सेवक वन जाता हे, उसका सर्वस्व पदार्थ ही वन जाता है।

धर्म ने स्वामी वनने की जो कला सिखाई, वह कला यह ह कि तुम पदार्थ का भोग करते हो, वह तुम्हारी आवश्यकता हे, किन्तु पदार्थ से प्रतिवद्ध मत वनो। मूर्च्छा का जो धागा तुम्हे जोड रहा है उस धागे को काट डालो। पदार्थ को पदार्थ रहने दो, चेतना को चेतना रहने दो। यह वीच का जो सूत्र है उसे तुम काट दो, तुम स्वामी बन जाओगे। यह स्वामी वनने की कला है। सिकन्दर ने सन्यासी से कहा—'तुम मेरे देश मे चलो।' सन्यासी ने इनकार कर दिया। वह स्वामी था, सेवक बनना नहीं चाहता था। सिकन्दर वोला—'क्या चाहते हो ?' सन्यासी वोला—'कुछ नहीं चाहता। यह धूप आ रही हे, इसमे तुम बाधक बन रहे हो, यहा से हट जाओ।'

यह वात वही व्यक्ति कह सकता हे, जो स्वामी बना हुआ है। जो स्वामी बनने की कला जानता है वही इतने बडे शक्तिशाली सम्राट् को कह सकता है कि जरा हट जाओ और धूप को आने दो। धर्म, अध्यात्म अथवा भारतीय सस्कृति का इतिहास इन घटनाओ से भरा पडा है कि किस प्रकार साधको ने, धर्म की आराधना करने वालो ने स्वामित्व का वरण किया और सेवकत्व को मिटाया।

—

धर्म का एक बहुत बडा अवदान है मूर्च्छा को तोड देना। मूर्च्छा को कैसे तोड़ा जाए ? इतना जटिल है कि एक बार मूर्च्छा का धागा बीच में आ गया, मूर्च्छा हो गई तो फिर वह बढती ही चली जाती है, टूटने का नाम तक नहीं लेती। कल्पना करे–छह अरब की आबादी वाली इस धरती पर अगर मूर्च्छा नहीं होती तो क्या कोई आदमी भूखा रहता ? भूखा रहने का प्रश्न ही नहीं आता। एक आदमी के पास अरबो की सपत्ति है, बहुत सारी बैंको मे, लॉकरों मे है, जिसका जीवन भर कोई उपयोग नहीं होता।

अगर सम्पत्ति काम मे आती तो कौन आदमी भूखा मरता ? यह भूखा मरने की स्थिति कब पैदा हुई ? विश्व की अधिकाश सम्पत्ति लाखो हाथो मे सिमट गई। इसलिए करोड़ो लोग खाने के लिए भी तरस रहे हैं। यदि यह मूर्च्छा नहीं होती तो इतने शस्त्रो का निर्माण नही होता। शस्त्रो के निर्माण मे लगने वाली सम्पदा जनता के काम आती तो कोई भूखा नहीं रहता। एक वर्ष मे अस्त्र–शस्त्रो के निर्माण मे जितनी धनराशि खर्च होती है, यदि वह बन्द हो जाए तो सारी दुनिया का पेट भर जाए। इतनी सम्पत्ति शस्त्र निर्माण मे लग रही है, इसका कारण है मूर्च्छा। वह कम होती है तो शस्त्र-अस्त्रो की आवश्यकता कम होती है।

धर्म ने सचाई को खोजा ही नही अपितु मूर्च्छा को तोडने के उपाय भी बतलाए। मूर्च्छा को तोडने का एक शक्तिशाली उपाय है–अनित्य अनुप्रेक्षा। हर व्यक्ति जानता है कि जिसका सयोग हुआ है उसका निश्चित वियोग होगा। जो जन्मा है वह मरेगा। जानने मात्र से कुछ नही होता। केवल जानना पर्यास नहीं है। किसी भी सिद्धान्त को क्रियान्वित करना है तो उसके लिए अभ्यास और भावना बहुत आवश्यक है। भावना का अर्थ है पुन –पुन· अभ्यास करना, बार–बार अनुप्रेक्षा करना, बार–बार चिन्तन, मनन और अनुशीलन करना। अनुप्रेक्षा के अभ्यास से ही कोई सिद्धान्त जीवन मे अवतरित होता है।

हर आदमी जानता है कि मरने के बाद सब कुछ यही रह जाता है, एक सूई भी साथ मे नहीं चलती। सब आदमी जानते है कि कुछ भी साथ नहीं जाएगा पर जानते हुए भी कर नहीं पाते। मूर्च्छा का एक ऐसा अवरोध है कि मनुष्य जानता हुआ भी अनजान बन जाता है। इस मूर्च्छा को तोडने का उपाय है–अनित्य अनुप्रेक्षा। यह जान लिया कि सयोग का वियोग होता है। कायोत्सर्ग की मुद्रा मे बैठकर एकाग्र होकर दोहराए–सयोग का निश्चित वियोग होगा। एक दिन यह शरीर भी नहीं रहेगा। सब चले जाएगे। सब छूट जाएगा। इस अनित्य अनुप्रेक्षा का आधा घटा अथवा एक घटा प्रतिदिन अभ्यास करते–करते एक बिन्दु ऐसा आता है कि मूर्च्छा की ग्रन्थि मे भेदन शुरू हो जाता है।

बौद्ध दर्शन सब कुछ अनित्य मानता है। शायद बुद्ध ने वैराग्य के लिए या मूर्च्छा को तोड़ने के लिए अनित्य का उपदेश दिया था, कालान्तर मे वह दर्शन का एक

वाद–क्षणिकवाद बन गया। किन्तु, उसका मूल क्या था? मूल था–अनित्यता की अनुभूति कराना। जो धार्मिक अनित्यता की अनुभूति नहीं करता, वह मूर्च्छा को तोड़ने मे सफल नहीं होता। ससार अनित्य है, काम-भोग अनित्य है। यह अनित्यता का बोध, अनित्यता की अनुभूति मूर्च्छा को तोडने का सबसे अधिक शक्तिशाली और अमोघ शस्त्र है।

मूर्च्छा जब सघन होती है, सबसे पहले सचाई पर आवरण डालती है। यह सचाई है कि चेतन अलग है और पदार्थ अलग है। उनको अभिन्न बना देना मूर्च्छा की पहली सफलता है। मूर्च्छा तभी सफल होती है जब दोनो अभिन्न बन जाते है। जहा अभिन्नता की अनुभूति हुई, वहा आदमी अधिक से अधिक सग्रह करना चाहेगा, सग्रह करने की वृत्ति जागेगी।

धर्म ने सीमा का बोध दिया। पदार्थ की सीमा करो, पहनने के कपडो की सीमा करो। यह सीमा का बोध मूर्च्छा से बचने का उपाय है। यह एक सुरक्षा पक्ति हे मूर्च्छा से वचने के लिए। किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति सीमा करना नहीं जानता। एक उद्योगपति से पूछा–'तुमने इतने झगडे किए। इतना इधर-उधर किया। आखिर उद्देश्य क्या हे?' उसने बहुत साफ-साफ कहा–'मेरा उद्देश्य था कि बिडला और टाटा से पहले मेरा नवर आए।'

यह कोई आवश्यकता नहीं, कोई उपयोगिता नहीं, केवल मूर्च्छा का खेल है। मूर्च्छा मनुष्य को जब चाहे कठपुतली बनाकर नचा देती है। सीमाकरण धर्म का एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यदि सीमा की बात प्रथम बन जाए तो मूर्च्छा को पनपने का मौका ही न मिले।

भगवान महावीर ने इस सदर्भ मे सुदर प्रतिपादन किया है–जीवन भर के लिए सीमा करो कि मैं जीवन भर इतने पदार्थों से ज्यादा काम मे नहीं लूगा।

34

आध्यात्मिक चिकित्सा

पाच आस्रव की जो अवधारणा है, वह आध्यात्मिक चिकित्सा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है। अध्यात्म के क्षेत्र में जितनी बीमारियां पैदा होती हैं, उनके मूल स्रोत तीन हैं–मिथ्या दृष्टिकोण, अविरति और प्रमाद। कषाय मूल बात नहीं है। कषाय तो इनके माध्यम से आ ही जाता है। चचलता भी कोई बीमारी नहीं है, मूल दोष नहीं है। चचलता दोष तब बनती है जब वह इनका वहन करती हैं। वह एक ऐसा मजदूर है जो किराए पर बोझ उठाता है। वह एक ऐसी हवा है जो भार ढोती है और बहुत गर्म हो जाती है, बहुत ठडी हो जाती है। बेचारा मजदूर भार ढो रहा है, उसका अपना क्या है? बेचारी हवा भार ढोती है, उसका अपना क्या है? कुछ भी नहीं है।

चचलता कोई मूल बीमारी नहीं है, वह मात्र बीमारी का संवाहक है। जब वह मिथ्या दृष्टिकोण के साथ जुड़ेगी तो मिथ्यात्व का वहन करेगी, अविरति के साथ जुड़ेगी तो अविरति का वहन करेगी और जब प्रमाद के साथ जुडेगी तो प्रमाद का वहन करेगी। जब इनके साथ नहीं जुड़ती है तो वह कुछ भी नहीं है।

योग अपने आप में न शुभ होता है और न अशुभ होता है। हमारे तीन योग हैं–मन योग, वचन योग और काय योग। मन न शुभ है और न अशुभ। वचन न शुभ और न अशुभ। शरीर का योग न शुभ है और न अशुभ। ये अपने आप में कुछ नहीं हैं, किन्तु जब ये मिथ्या दृष्टिकोण, अविरति और प्रमाद के साथ जुडते हैं तो अशुभ बन जाते हैं और तपस्या आदि के साथ जुडते हैं तो शुभ बन जाते हैं। वे शुभ और अशुभ बनते हैं, किन्तु प्रकृति से शुभ-अशुभ नहीं हैं। मिथ्या दृष्टिकोण, अविरति और प्रमाद प्रकृति से ही अशुभ हैं। योग ऐसा नहीं है। हमें सबसे पहले निदान करना है कि दृष्टिकोण कहीं गलत तो नहीं है। गलत दृष्टिकोण के कारण तो कोई बीमारी नहीं हो रही है। बहुत सारी बीमारिया और बहुत सारे रोग मिथ्या दृष्टिकोण के कारण पैदा होते हैं।

यह न सोचें कि हम नव तत्त्व को जानते हैं, इसलिए सम्यक् दृष्टि बन गए हैं। बीमारी कैसे होगी? सम्यक् दृष्टि बहुत सापेक्ष शब्द है। तत्त्व के विषय में हमारी रुचि सापेक्ष हो गई किन्तु जीवन-व्यवहार के प्रति मिथ्या दृष्टिकोण बहुत चलता है। मिथ्या धारणाए व्यक्ति को बीमार बनाती हैं। दूसरा है अविरति। एक आकाक्षा, इच्छा हजारों-हजारो रूप ले लेती हैं।

किसी व्यक्ति में वस्तु के प्रति लालसा है। किसी में भोजन के प्रति लालसा है, किसी में किसी व्यक्ति के प्रति लालसा है। एक इच्छा अपने परिवेश और वातावरण के अनुसार हजारो रूपो में बदल जाती है। उस इच्छा वाले व्यक्ति को प्राचीन योग साहित्य में, अध्यात्म के साहित्य में रागचरित व्यक्ति कहा गया है।

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—रागचरित और द्वेषचरित। जो व्यक्ति द्वेष प्रधान होते हैं उनमें राग कम होता है, द्वेष प्रबल हो जाता है। ये द्वेष प्रधान व्यक्ति झगडा करना, झझट करना, गालिया देना, निन्दा करना, चुगली करना—इन कार्यों में लगे रहते हैं। द्वेष प्रधान व्यक्ति कहेगा—अमुक व्यक्ति ने यह गलती कर दी। उसने चरित्र में यह गलती कर दी, मैं नहीं करता हूँ। वह रागचरित आदमी को गलत मानता है और अपने द्वेष को बिलकुल सही मानता है। जो रागचरित व्यक्ति होता है, वह द्वेष करने वाले व्यक्ति को गलत मानता है। वह कहेगा—कितना झगडालू है, कितना बदमाश है, जहा भी जाता है समस्या पैदा कर देता है, किन्तु अपने आपको गलत नहीं मानता। यह है मिथ्या दृष्टिकोण। उसने अपनी धारणा मिथ्या बना ली। अपने से विपरीत आचरण वाले को तो गलत मानता है और अपने गलत आचरण को सही मानता है। अपने इस मिथ्या दृष्टिकोण के कारण वह गलत बात को पोषण दे रहा है, बीमारी को पोषण दे रहा है। बीमारी को सबसे ज्यादा पालने का साधन बनता है—मिथ्या दृष्टिकोण।

जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण सही नहीं है, जिसकी धारणाए सही नहीं हैं, मान्यताए सही नहीं हैं, वह कुछ करेगा ही नहीं। बहुत लोग ऐसे होते हैं, जो बीमार तो हैं पर अपने आपको स्वस्थ मान रहे हैं। अपनी बीमारी का उन्हें अहसास नहीं हो रहा है। आवश्यकता है—दृष्टिकोण को इतना सहज और सरल बनाया जाए, इतना सम्यक् बनाया जाए, जिससे कम से कम यह अनुभव हो कि हमारे अदर ये-ये बीमारिया हैं। अपनी बीमारी का अहसास बराबर बना रहे। यह एक निदान है। इससे पता चलता है कि मिथ्या मान्यता के कारण कितनी बीमारिया पलती हैं और मुझे कौन-सी बीमारी हैं।

बीमारी का दूसरा स्रोत है—अविरति। अध्यात्म का एक सूत्र है—जो पर्याय है, वह अस्थिर है, अनित्य है। तात्त्विक दृष्टि से भी यह सही है और व्यवहार की दृष्टि से भी यह सही है। तात्त्विक दृष्टि से हम यह मानते हैं कि कोई पर्याय दीर्घकालीन हो सकता है, दस, बीस या पचास वर्ष चल सकता है, किन्तु कोई पर्याय शाश्वत नहीं हो सकता। व्यवहार की दृष्टि से देख रहे हैं कि कोई पीढी शाश्वत नहीं है। 100 वर्ष पहले की पीढी आज मुश्किल से कहीं खोजने पर मिलेगी। सारी समाप्त है। इस अवस्था में अविरति के प्रति हमारा दर्शन बदल जाता है।

अविरति है आकाक्षा। पदार्थ के प्रति आकाक्षा, व्यक्ति के प्रति आकाक्षा और वस्तु के प्रति आकाक्षा। एक आकाक्षा है, जो निरन्तर व्यक्त होती रहती है। उसका निदान

हो सकता है, आत्म-निरीक्षण के द्वारा पता लग सकता है कि मुझ में कौन-सी अविरति का रूप ज्यादा प्रकट हो रहा है, कौन-सी इच्छा ज्यादा व्यक्त हो रही है। अपनी अविरति का पता लगा लेना और अपने भीतर से उठने वाली रागात्मक या रागजनित प्रवृत्ति का पता लगा लेना बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है।

अस्वास्थ्य में बहुत तारतम्य होता है। बीमारी एक प्रकार की नहीं होती। कोई बीमारी इतनी स्पष्ट होती है कि तुरत पता लग जाता है और कोई बीमारी ऐसी होती है कि उसका पता लगाना कठिन होता है। आजकल निदान के बहुत साधन विकसित हो गए हैं किन्तु अनेक बीमारियों का निदान अब भी अप्राप्य है। अनेक लोग कहते हैं—कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई, मद्रास आदि सारे स्थलों पर चेक करवा लिया। डॉक्टर कहते हैं—बीमारी नहीं है और मैं बीमारी भोग रहा हूँ। यह निदान की वर्तमान स्थिति है। यह स्थिति आध्यात्मिक व्यक्तियों में भी बनती है। कुछ लोग कहते हैं- मैं अमुक-अमुक सन्तों के पास गया, अमुक महात्मा के पास गया और जितने अध्यात्म के योगी हैं उन सबके पास गया, किन्तु समस्या का समाधान नहीं हुआ, कहीं भी निदान नहीं हुआ। इसका कारण हो सकता है—इतने तीव्र और सूक्ष्मदर्शी उपकरण हमारे पास नहीं हैं।

अध्यात्म के क्षेत्र में इतने सूक्ष्म उपकरणो के विकास की जरूरत है, जिनके द्वारा यह पता लगाया जा सके कि व्यक्ति में यह बीमारी कहा बैठी हुई है और इसका निवारण कैसे किया जा सकता है ? ये उपकरण यान्त्रिक नहीं, चारित्रिक होंगे। शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति मिले, जिसके कोई समस्या न हो। हर व्यक्ति के मन में समस्या है, जिस पर वह कट्रोल नहीं कर पाता। वह अपनी समस्या, अपनी बात कह देता है। पूरी बात तो शायद कोई भी कह नहीं पाता। सबके मन में एक आवरण है, एक सकोच है।

जो लोग अध्यात्म के क्षेत्र में जी रहे हैं, वे छद्मस्थ हैं। छद्म का अर्थ है—आवरण। आवरण हमारे साथ है। हमारे पास पर्दा है। हम ढाकना जानते हैं, बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। इतनी कुशलता से जानते हैं कि अपनी बीमारी का किसी को पता ही नहीं लगने देते हैं। हम किसी को नहीं बताना चाहते हैं कि हम बीमार हैं। बीमारी को ढाकने के लिए हमारे पास बहुत आवरण हैं, छद्म हैं इसीलिए हम छद्मस्थ बन गए। वीतराग बनने के बाद चेतना अनावृत होती है, छद्म समाप्त होता है। ढाकने की जरूरत नहीं रहती।

भगवान महावीर ने कहा—धर्म उसी व्यक्ति में टिकता है जो ऋजु होता है, जो ढाकना नहीं जानता। जो ढाकना जानता है, वह तो मायाचार करेगा। वह ऋजु नहीं होगा। ढाकना बहुत सरल है। बिना सिखाए आदमी सीख जाता है। अध्यापक ने विद्यार्थी से कहा—बताओ, ऐसा कौन-सा काम है, जो बिना किए हो जाता है। विद्यार्थी बोला—फेल होना ऐसा काम है जो बिना किए हो जाता है, प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं

होती। यह ढाकने वाली बात ऐसी है जो बिना सिखाए होती है। कहीं पढाना नहीं पडता, हर व्यक्ति जानता है। छद्म करने वाला व्यक्ति जानता है कि किस बात को कैसे ढाका जा सकता है और कैसे उस पर पर्दा डाला जा सकता हे। अपनी गलती हो जाने पर भी ढाकने का प्रयत्न होता है।

इस बात की अपेक्षा हे कि हम ऋजुता का प्रयोग करें। यह प्रयोग एक अनावरण का प्रयोग होगा। इससे सही निदान होने में सुविधा होगी। निदान वही सही होगा जहा ऋजुता होगी।

बीमारी का तीसरा कारण है–प्रमाद। बहुत सारी बीमारिया प्रमादजनित होती हें। मनुष्य में आलस्य भी हे, मूर्च्छा भी हे, अकर्मण्यता भी हे, नींद भी हे। ये अनेक कारण हें, जो बीमारिया पेदा करते हें। इन सारी बीमारियों के निदान के लिए और कोई साधन न मिले तो व्यक्ति को आत्मलोचन या आत्म-निरीक्षण करना होता हे। प्रत्येक व्यक्ति देखे–कौनसी बीमारी है और उसे वह नहीं मिटा पा रहा है। क्या उसे दूसरों का परामर्श लेना चाहिए? दूसरों के सामने अपनी बात रखकर अपना निदान कराना चाहिए? निदान के पश्चात उसकी चिकित्सा करानी चाहिए? इस निरीक्षण का एकमात्र उद्देश्य होता है–स्वस्थ होना। जब यह आस्था प्रबल बन जाए, यह सकल्प प्रबल बन जाए कि मुझे स्वस्थ होना ह, जिस क्षेत्र के लिए में आया हूँ मुझे उसी में जीना हे, जब यह आस्था प्रबल होगी तो निदान भी सभव बनेगा, चिकित्सा भी सभव बनेगी। पहला प्रश्न है आस्था का। क्या हम सचमुच अध्यात्म के क्षेत्र में विकास करना चाहते हें? क्या हम सचमुच अध्यात्म के क्षेत्र में पूरा जीवन जीना चाहते हैं? क्या हम सचमुच अध्यात्म के क्षेत्र में आगे बढना चाहते हें? अगर यह आस्था मजबूत हो तो हमारा मार्ग स्पष्ट बनेगा।

35

आसक्ति का बन्धन

ममत्व की ग्रथि का आदि-विन्दु है शरीर। जब यह गाठ खुल जाती है तब मार्ग स्पष्ट दीखने लग जाता है। जब अहकार और ममकार--दोनो की गाठे खुल गईं–'मैं शरीर नहीं हूँ', 'शरीर मेरा नहीं है'–तब नए चैतन्य का उदय होता है। उस सूर्य का उदय होता है जो कभी पूर्वांचल मे आया ही नहीं था। कभी उगा ही नहीं था। जब ऐसे सूर्य का उदय होता है तब जीवन की सारी दिशा बदल जाती है।

प्रश्न हो सकता है कि क्या इस भूमिका मे जीने वाला कभी व्यवहार की भूमिका मे जी सकेगा ? मै मानता हूँ कि वह अच्छी तरह से जी सकेगा। किन्तु, यह सभव कैसे होगा ? जिसने यह मान लिया कि में शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है, क्या वह शरीर के प्रति उदासीन नहीं हो जाएगा ? क्या वह शरीर के प्रति विरक्त नहीं हो जाएगा ? क्या यह शरीर के प्रति उपेक्षा नहीं है ? क्या ऐसा व्यक्ति जीवन को चला पाएगा ? जो व्यक्ति शरीर के प्रति उपेक्षा बरतेगा, क्या वह देश के प्रति अनुरक्त रह पाएगा ? वह अपने दायित्वो और कर्तव्यो को कैसे निभा पाएगा ?

ये प्रश्न सहज हैं, किन्तु इन प्रश्नो मे कोई व्यावहारिक कठिनाई नहीं है। जिसने यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि शरीर भिन्न है और मैं भिन्न हूँ, उसने शरीर के साथ सम्बन्ध की एक योजना कर ली। उस सम्बन्ध को अनेक रूपको मे अभिव्यक्ति दी गई है। महावीर ने कहा–शरीर नौका है और आत्मा नाविक है। उपनिषद्कारो ने कहा–शरीर रथ है और आत्मा रथिक है। शरीर घोडा है और आत्मा घुडसवार है। क्या समुद्र मे तैरने वाला नाविक कभी अपनी नौका की उपेक्षा कर सकता है ? ऐसा वह कभी नहीं कर सकता। समुद्र की तेज धारा मे बहा जा रहा है, अथाह जल है और पार होने का एकमात्र साधन है नौका। क्या ऐसा मूर्ख व्यक्ति मिलेगा जो समुद्र मे उतरकर भी नौका की उपेक्षा करे ? कभी नही कर पाएगा। वह नौका की पूरी रक्षा करेगा। उसे कुछ भी आच नहीं आने देगा।

साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह शरीर का सम्यक् दर्शन करे। आसक्ति का मूल शरीर है। शरीर के साथ सभी व्यक्ति बधे हुए हैं। शरीर का ममत्व नहीं टूटता है तो साधना में प्रगति नहीं होती। अशौच भावना उस बंधन को शिथिल करती है, तोडती है। बुद्ध ने इसके लिए 'कायगता-स्मृति' का पूरा प्रयोग बतलाया है। 'कायगता-स्मृति' की विशेषता के सबध मे बुद्ध कहते हैं–"भिक्षुओ। एक धर्म भावना को और बढाना

महासवेग के लिए होता हे, महाअर्थ (कल्याण) के लिए होता है, महायोगक्षेम (निर्वाण) के लिए होता हे, महास्मृति-सम्प्रजन्य के लिए होता है, ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिए होता है, इसी जीवन में सुख से विहरने के लिए होता हें, विद्या-विमुक्ति फल के साक्षात्कार के लिए होता हे। कोन ?'' —'साधक धर्म, कायगता-स्मृति।'

'भिक्षुओं! वे अमृत का प्रयोग करते हें जो कायगता-स्मृति का प्रयोग करते हें,' ओर, 'भिक्षुओं! वे अमृत का प्रयोग नहीं करते जो कायगता-स्मृति का प्रयोग नहीं करते।'

ज्ञान के आवृत होने पर मनुष्य जान नहीं पाता। नहीं जानना अज्ञान हे। दृष्टि मूढ होने पर मनुष्य जानता हुआ भी सम्यक् नहीं जानता, विपरीत जानता हे। यह मिथ्यात्व है। इस अवस्था में इद्रिय-विषयों के प्रति तीव्र आसक्ति रहती हे। क्रोध, मान, माया ओर लोभ प्रवलतम होते हें। मानसिक ग्रथिया बनती रहती हें। वे जीवन भर खुलती नहीं। व्यवहार में क्रूरता अधिक रहती हे। मिथ्यात्व मे मनुष्य दु खद विषयो को सुखद मानता ह ओर अशाश्वत विषयों को शाश्वत मानकर चलता हे। उसमें असत्य का आग्रह होता हे। वह पदार्थ को ही सर्वस्व मानता ह। धन के प्रति उसमें तीव्रतम मूर्च्छा होती है। नैतिकता या प्रामाणिकता में उसे कोई विश्वास नहीं होता।

मनुष्य में एक आकाक्षा की वृत्ति होती हे, उसके कारण वह पदार्थ में अनुरक्त होता ह। उसे वह प्राप्त करना ओर भोगना चाहता हे। उसी वृत्ति के अस्तित्व में वह पदार्थ से विरत नहीं होता। इसलिए उस वृत्ति का नाम अविरति हे। इस अवस्था में मनुष्य की दृष्टि पदार्थ के प्रति आकृष्ट होती रहती ह। पदार्थ ओर धन के द्वारा होने वाले अनिष्ट परिणामों को जान लेने पर भी वह उन्हें छोड नहीं सकता। मूर्च्छा के कारण उसे भय सताता रहता हे। जीवन की आकाक्षा ओर मृत्यु का भय भी मन को विचलित करता रहता हे। सामाजिक जीवन में पारस्परिक टकरावों, सघर्षो ओर छीनाझपटी का कारण यह अविरति की मनोदशा ही हे।

प्रमाद का एक अर्थ हे—विस्मृति। इससे आत्मा की, चेतन्य की विस्मृति होती है। इस अवस्था में मनुष्य का मन इद्रिय-विषयों के प्रति आकर्षित हो जाता हे। शात बने हुए क्रोध, मान, माया और लोभ फिर उभर आते हें, जागरूकता समाप्त हो जाती हे, करणीय और अकरणीय का वोध धुधला हो जाता हे।

प्रमाद का दूसरा अर्थ हे—अनुत्साह। प्रमत्त अवस्था में सयम, क्षमा आदि धर्मों के प्रति मन में अनुत्साह आ जाता हे, सत्य के आचरण में शिथिलता आ जाती है। इसमे आध्यात्मिक अकर्मण्यता और अलसता की स्थिति बनी रहती है। वासना, भोजन आदि की चर्चा में जो आकर्षण होता हे वह आध्यात्मिक विकास की चर्चा में नहीं होता।

राग और द्वेष—ये दो मूल दोष हैं। राग, माया ओर लोभ की प्रवृत्ति को तथा द्वेष, क्रोध और अभिमान की प्रवृत्ति को जन्म देता है। ये चारो—क्रोध, मान, माया और लोभ,

चित्त को रगीन बना देते हैं, इसलिए इन्हें कषाय कहा जाता है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद—ये कषाय के उदय से ही निष्पन्न होते हैं। तीव्रतम कषाय के उदयकाल में सम्यग् दृष्टि उपलब्ध नहीं होती। तीव्रतर कषाय के उदयकाल में आंशिक विरति भी नहीं होती। तीव्र कषाय के उदयकाल में पूर्ण विरति नहीं होती।

36

धर्म की परिभाषा

भगवान् महावीर ने कहा–'इस क्षण को जानो।' वर्तमान को जानना और वर्तमान में जीना ही भाव-क्रिया है। यान्त्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना-लोक में उडान भरना द्रव्य-क्रिया हे। यह चित्त का विक्षेप हे ओर साधना का विघ्न हे। भाव-क्रिया स्वय साधना ओर स्वय ध्यान ह। हम चलते हें ओर चलते समय हमारी चेतना जागृत होती हे। हम चल रहे हें, इसकी स्मृति रहती हे–यह गति की भाव-क्रिया हे। इसका सूत्र है–साधक चलते समय पाचो इन्द्रियों के विपयों पर मन को केन्द्रित न करे। आखों से कुछ दिखाई देता ह, शव्द कानों से टकराते हें, गध के परमाणु आते हें, ठडी या गर्म हवा शरीर को छूती हे–इन सवके साथ मन को न जोडे।

साधक चलते समय पाचों प्रकार का स्वाध्याय न करे–न पढाए, न प्रश्न पूछे, न पुनरावर्तन करे, न अर्थ का अनुचिन्तन करे ओर न धर्म-चर्चा करे। मन को पूरा खाली रखे। साधक चलने वाला न रहे, किन्तु स्वय चलना वन जाए, तन्मूर्ति (मूर्तिमान गति) हो जाए। उसका ध्यान चलने में ही केन्द्रित रहे, यह गमन योग हे। शरीर ओर वाणी की प्रत्येक क्रिया भावक्रिया वन जाती हे, जव मन की क्रिया उसके साथ होती हे, चेतना उसमें व्याप्त होती हे।

भावक्रिया का सूत्र हे–चित्त ओर मन क्रियमाण, क्रियामय हो जाए। इन्द्रिया उस क्रिया के प्रति समर्पित हों, हृदय उसकी भावना से भावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विपय में न जाए, इस स्थिति में क्रिया भाव-क्रिया वनती है।

हमारे भीतर शक्ति का अनत कोप है। उस शक्ति का वहुत वडा भाग ढका हुआ हे, प्रतिहत हे। कुछ भाग सत्ता में हे ओर कुछ भाग उपयोग में आ रहा है। हम अपनी शक्ति के प्रति यदि जागरूक हों तो सत्ता में रही हुई शक्ति और प्रतिहत शक्ति को उपयोग की भूमिका तक ला सकते हें।

शक्ति का जागरण सयम के द्वारा किया जा सकता है। हमारे मन की अनेक मार्गे होती हैं। हम उन मागो को पूरा करते चले जाते हें। फलत हमारी शक्ति स्खलित होती जाती हे। उसके जागरण का सूत्र है–मन की माग का अस्वीकार। मन की माग के अस्वीकार का अर्थ हे–सकल्प-शक्ति का विकास। यही सयम है। जिसका निश्चय (सकल्प या सयम) दृढ होता है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं होता।

शुभ और अशुभ निमित्त कर्म के उदय में परिवर्तन ला देते हैं, किन्तु मन का सकल्प उन सबसे बडा निमित्त है। इससे जितना परिवर्तन हो सकता है उतना अन्य निमित्तो से नहीं हो सकता। जो अपने निश्चय में एकनिष्ठ होते हैं, वे महान् कार्य को सिद्ध कर लेते हैं।

आवेग चैतन्य का स्वभाव नहीं है। यह चैतन्य के साथ उत्पन्न मूढता है। यह मोह है, विकृति है, किन्तु स्वभाव नहीं है। इसीलिए यह सम्भावना शेष रहती है कि आवेग को निरस्त किया जा सकता है। उस योग को दूर किया जा सकता है जो आकर जुड गया है। उसे काटा जा सकता है। उसे काटने के अनेक उपाय हैं, अनेक साधन हैं। उन सब साधनो में महत्त्वपूर्ण साधन है—चैतन्य का अनुभव, सवर का शुद्ध उपयोग। जब हम चैतन्य के अनुभव में होते हैं तब सवर की स्थिति होती है। जब चैतन्य का अनुभव होता है तब कोई आवेग हो नहीं सकता। आवेग तब होता है जब हमारा चैतन्य का अनुभव लुप्त हो जाता है। जब चैतन्य पर मूर्च्छा छा जाती है, जब चैतन्य पर ढक्कन आ जाता है, तब आवेग को उभरने का अवसर मिलता है। जब चैतन्य की अनुभूति होती है तब आवेग आ ही नहीं सकता।

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा कि साधना का चरम शिखर है—'अयोग'। वहा सब योग समाप्त हो जाते हैं। यह 'अयोग' शब्द बड़ा जटिल है। सभी आचार्यों ने शब्द चुना—'योग'। उन्होने कहा—योग की साधना करो। भगवान महावीर ने कहा—'नहीं, अयोग की साधना करो। योगो को समाप्त करो, सम्बन्धो को तोडो।' इससे क्या होगा ? इससे सब कुछ घटित हो जाएगा, क्योकि पाना कुछ भी नहीं है, बाहर से लेना कुछ भी नहीं है। हम सब अपने आप मे परिपूर्ण हैं। बाहर जितनी वस्तुए हैं, उन्हें छोडना ही हितकर है।

अन्तिम शिखर है—अयोग। जब सम्यक्त्व का संवर हो जाता है, व्रत का सवर हो जाता है, अप्रमाद का सवर हो जाता है, अकषाय का सवर हो जाता है, तब अन्तिम शिखर आता है—अयोग संवर। जहा हमने सारे सम्बन्ध काट डाले, वहा अयोग हो जाता है। वहा पूर्ण विकास हो जाता है, परमात्मा की पूर्ण स्थिति उपलब्ध हो जाती है। अयोग सवर के घटित होते ही जो पौद्गलिक सम्बन्ध आत्मा के साथ है, वे सब एक साथ विच्छिन्न हो जाते हैं। उस समय हमारा अस्तित्व उजागर होता है।

धर्म के क्षेत्र में यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या धर्म के पास कोई रेचन का उपाय है ? धर्म दमन सिखाता है। वह कहता है—गुस्से को दबाओ, कामवासना का दमन करो, भय और अह को दबाओ। धर्म केवल दबाने की ही बात करता है, यह कहना सही नहीं है। धर्म ने कभी दमन नहीं सिखाया। उसके पास निर्जरा का सिद्धात है। निर्जरा का अर्थ है—रेचन। जो भीतर सचित है उसको बाहर निकालना, यह है निर्जरा। इतना निकालना,

इतना रेचन करना कि भीतर में जो सचित है, केवल वही समाप्त न हो जाए, बल्कि सचित करने का तत्र भी समाप्त हो जाए। जब किसी पछी की पाखें रजों से भर जाती हैं तव वह अपनी पाखों को प्रकपित कर सारे रजकणों को झाड देता है। इसी प्रकार इतना प्रकपन करो कि साय दवाव समाप्त हो जाए, वाहर निकल जाए, रेचन हो जाए। यह निर्जरा की प्रक्रिया हे। यह केवल क्रोध या भय के तनाव को समाप्त करने की ही प्रक्रिया नहीं है, अपितु क्रोध और भय के मूल तत्र को मिटाने की प्रक्रिया हे। इस प्रक्रिया के द्वारा ही ऊर्जा की ऊर्ध्व-यात्रा, चित्तवृत्तियों की निर्मलता, धर्मध्यान ओर शुक्लध्यान की स्थिति उपलब्ध होती हे।

धर्म का अर्थ हे स्वभाव ओर वे साधन जिनसे व्यक्ति स्वय में प्रतिष्ठित होता हे। धर्म को प्राण, द्वीप, प्रतिष्ठा ओर गति कहा ह। व्यक्ति जव धर्म को जान लेता है, उससे सम्यक् परिचित हो जाता हे तव उसके लिए जो कुछ हे वह सव धर्म ही हे।

मेरी दृष्टि में धर्म की परिभाषा हे--धर्म हमारे जीवन का वह आलोक हे जो हमारी इन्द्रियों को, मन को ओर वुद्धि को आलोकित करता हे, प्रकाश से भर देता हे।

—धर्म वह हे जो हमारे जीवन की अन्धकारमय सस्कारों की परतों को प्रकाशमय वनाता है।

—धर्म वह हे जो इन्द्रियों को, वुद्धि को ओर मन को निर्मल वनाता हे।

—धर्म वह है जो इन्द्रिय, वुद्धि ओर मन को शक्तिशाली वनाता है।

कोई भी व्यक्ति अधकार की गुफा में नहीं रहना चाहता, कोई भी व्यक्ति अज्ञानी नहीं रहना चाहता तथा कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति वीर्यहीन नहीं रहना चाहता। सब व्यक्ति प्रकाशी, ज्ञानी ओर वीर्यवान् वनना चाहते हें।

एक वार स्वर्ण ने स्वर्णकार से कहा, 'तुम मुझे अग्नि में डालते हो, इसका मुझे दु ख नहीं। लोहे से मुझे पीटते हो, इसका भी मुझे दु ख नहीं। लेकिन दु ख इस बात हे कि तुम मुझे चिरमियों से तोलते हो।' ठीक यही वेदना समझदार व्यक्ति के मन में होती हे जव वह सुनता है कि धर्म अफीम की गोली है या निकम्मी चीज है। किन्तु मेरी यह मान्यता है कि व्यक्ति श्वास के बिना जी सकता है (चाहे कुछ क्षण तक ही सही) लेकिन धर्म के बिना दो क्षण भी जीवित नहीं रह सकता।

दर्शन की भाषा में धर्म की परिभाषा है--आत्मा की शुद्धि ही धर्म है। साहित्य की भाषा में धर्म की परिभाषा है--जिसके द्वारा ज्ञान, आनद और शक्ति का विकास हो, वही धर्म है। मनोविज्ञान की भाषा में धर्म की परिभाषा है--समता।

समता धर्म हे ओर विषमता अधर्म। यह एक कसौटी है। एक जमाना था अर्थवाद का। लोग किसी भी चीज को बढा-चढ़ाकर कहते थे। जैसे अगर तुम क्रोध करोगे तो

काले हो जाओगे या अमुक काम करोगे तो स्वर्ग में जाओगे आदि-आदि। लेकिन आज वह स्थिति नहीं रही। आज का बुद्धिजीवी इन बातों पर विश्वास नहीं करेगा। लोकमान्य तिलक को पुस्तको से बेहद प्यार था। उन्होंने एक बार कहा था, 'अगर मैं नरक में भी जाऊॅ और वहा मुझे पुस्तकें मिल जाए तो मैं स्वर्ग की कामना नहीं करूंगा, वही मेरी लिए स्वर्ग बन जाएगा।'

आज व्यक्ति नरक से डरता नहीं है। आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार के व्यक्ति बताए हैं—मद, मध्यम और प्राज्ञ। तीनो को अलग-अलग तरीकों से समझाया जाए। मन्द व्यक्ति को कहें, अगर तुम बुरा करोगे, पाप करोगे तो नरक में जाओगे। मध्यम व्यक्ति को वस्तु-स्थिति समझाई जाए—यह काम बुरा है, ऐसा करने से तुम्हारा अहित होगा। प्राज्ञ व्यक्ति को तत्त्व क्या है, यह समझाने की आवश्यकता है। कौन-सा काम करने से किस प्रकार की प्रतिक्रिया होगी, यह समझ लेने पर प्राज्ञ व्यक्ति स्वत सही मार्ग अपना लेता है।

स्वय का होना बोधि है। जीवन में सब कुछ पाकर भी जिसने बोधि नहीं पाई, उसने कुछ नहीं पाया और बोधि पाकर जिसने और कुछ नहीं पाया उसने सब कुछ पा लिया। मरने के बाद सब कुछ छूट जाता है, खो जाता है, वह हमारी अपनी सम्पत्ति नहीं है। सबोधि अपनी सम्पत्ति है, उसे खोजना है। अनेक-अनेक योनियों में जन्मे और मरे, किन्तु स्वय के अस्तित्व को नहीं पहचाना। जन्म के पूर्व और मरने के बाद भी जिनका अस्तित्व अखण्ड रहता है, उसकी खोज में निकलना 'बोधि भावना' का अभिप्राय है।

आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है—'भावनाओ में रमण करता हुआ साधक इसी जीवन में दिव्य मुक्तानन्द का स्पर्श कर लेता है। उसकी कषायाग्नि शात हो जाती है, पर-द्रव्यो के प्रति जो आसक्ति है वह नष्ट हो जाती है, अज्ञान का उन्मूलन होता है और हृदय में बोध-प्रदीप प्रज्वलित हो जाता है।'

37

सापेक्षता

अपेक्षाकृत दूरी और अपेक्षाकृत निकटता। सापेक्षता के द्वारा ही सम्यक् समाधान सभव बन सकता है। महर्षि कुत्स के हाथ में एक कमण्डलु था। उन्होंने शिष्य से पूछा—बताओ, यह खाली है या भरा हुआ है? आधा पानी था उसमें। अब क्या उत्तर दें, शिष्य उलझन में पड गया। गुरु से ही रहस्य बताने का अनुरोध किया। महर्षि ने कहा—खाली भी है, भरा हुआ भी है। आधा पानी है, इसलिए खाली नहीं है। कमडलु पूरा भरा हुआ नहीं है, इसलिए खाली भी है। यह है सापेक्षता।

जैन दर्शन ने सापेक्षता के सूत्र से अनेक समस्याओं को सुलझाया है। दूसरे दर्शनो ने भी यत्किचित इस सिद्धात का उपयोग किया है। इस युग के महान् वैज्ञानिक आइस्टीन ने गणित की अनेक समस्याओं का अपेक्षा के द्वारा हल प्रस्तुत किया और एक नया अपेक्षावाद विश्व के सामने अभिव्यक्त किया। अनेकात का जो अपेक्षावाद था उसे वैज्ञानिक जगत में नया सदर्भ मिल गया। वर्तमान आर्थिक समस्याओं के सदर्भ में सापेक्षवाद का प्रयोग किया जाए तो उसे एक और नया आयाम मिल जाएगा।

सापेक्षवाद के दो पहलू हैं—अध्यात्म-सापेक्ष और समाज-सापेक्ष। भगवती सूत्र में एक प्रसग है—एक मुनि अपने लिए बनाया हुआ भोजन नहीं करता। इसका कारण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—वह मुनि पृथ्वीकाय की अपेक्षा रखता है, अप्काय के जीवों की अपेक्षा रखता है, तेजस्काय के जीवों की अपेक्षा रखता है, वायुकाय के जीवों की अपेक्षा रखता है, वनस्पति काय के जीवो की अपेक्षा रखता है, त्रसकाय के जीवो की अपेक्षा रखता है। इसलिए वह अपने लिए बना हुआ भोजन नहीं करता। यह अपेक्षा अध्यात्मवाद की सापेक्षता है। मुनि जीवों के प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकता। निरपेक्ष होने का अर्थ है—क्रूर होना, निर्दयी होना। मुनि निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष होता है। इसलिए वह जीवों की हिसा करना नहीं चाहता और कराना भी नहीं चाहता।

सामाजिक समस्या को सुलझाने में सापेक्षता एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। सापेक्षता होती है तो शोषण नहीं हो सकता। सापेक्षता होती है तो अपराध नहीं हो सकता, सापेक्षता होती है तो हिसा नहीं हो सकती, युद्ध नहीं हो सकता। ये सारे कार्य निरपेक्षता के कारण किए जाते हैं।

व्यक्ति ने अपने जीवन में कमाया, खाया और मरने के बाद वह सम्पत्ति समाज की है। जहा सम्पत्ति का समाजीकरण हो जाता है वहा सात पीढी की चिता को कोई

अवकाश नहीं मिलता। साम्यवाद का व्यक्तिगत स्वामित्व के सीमाकन का यह सूत्र आर्थिक जीवन की जटिलता को समाप्त करने का हेतु बनता है, निमित्त बनता है।

सापेक्षवाद के इन दो पहलुओं—आध्यात्मिक सापेक्षता और सामाजिक सापेक्षता का विस्तार किया जाए तो आशा की जा सकती है कि आर्थिक जीवन की जटिलताए कम होंगी। यदि इन पर ध्यान नहीं दिया गया तो अपराध, शोपण, हिसा, युद्ध आदि पर ध्यान देने की कोई सार्थक निष्पत्ति होगी, ऐसा नहीं लगता। या तो हम स्वामित्व की सीमा के सूत्रों को पकडें या इस चर्चा को छोड़ दें ओर जो कुछ हो रहा है उसे होने दें। किन्तु, कोई भी समझदार व्यक्ति यथास्थिति नहीं चाहता। वह समाज का विकास और समृद्धि चाहता है, समाज को स्वस्थ बनाना चाहता है। इसके लिए व्यक्तिगत स्वामित्व के सीमाकन पर उसे विचार अवश्य करना होगा।

दुनिया मे अनन्त-अनन्त प्राणी हें। विश्व का एक-एक कण, आकाश का एक-एक प्रदेश जीवो से भरा हुआ है। इतने जीव हैं, जिनकी गिनती नहीं की जा सकती, जिन्हें नापा नहीं जा सकता। असख्य नहीं, अनत-अनत जीव हैं इस ससार में। इन सब जीवों में मनुष्य एक प्राणी है। उसकी अपनी मौलिक विशेषताए हैं। जो विशेषताए मनुष्य में हैं, वे दूसरे प्राणियों में नहीं हैं। अन्तरग्रहीय या अन्तर-नक्षत्रीय किसी भी भूखण्ड में रहने वाले प्राणी में मनुष्य जितनी विशेषता नहीं हैं। मनुष्य की अपनी तीन मौलिक विशेषताए हैं—विचार, वचन और व्यवहार । विचार करने की क्षमता मनुष्य में है, वह किसी दूसरे प्राणी में नहीं है। वचन की जो शक्ति मनुष्य में है, वह किसी दूसरे प्राणी में नहीं है। व्यवहार की क्षमता भी जैसी मनुष्य में है, वैसी किसी प्राणी में नहीं है। ये तीन ऐसे गुण हैं, ये तीन ऐसी विशेषताएं हैं, जो मनुष्य को शेष सारे जगत के प्राणियो से अलग कर देती हैं। उसके अस्तित्व को विभक्त कर देती हैं, उसकी अलग पहचान बनाती हैं।

चिन्तन मनुष्य की अपनी विशेषता है। मनुष्य जितना सोचता है, चिन्तन करता है, वह विलक्षण है। अपने चिन्तन के बल पर उसने बहुत विकास किया है। उसने अपने चिन्तन से जगत को बदल दिया।

सन्मति तर्क की टीका में एक सुन्दर प्रसग आता है व्यवहार का। पूछा गया—व्यवहार क्या है ? उत्तर दिया गया—व्यवहार त्रयात्मक होता है। उसके तीन अग हैं—प्रवृत्ति, निवृत्ति और उपेक्षा। किसी कार्य में प्रवृत्ति, किसी कार्य से निवृत्ति और किसी कार्य की उपेक्षा। व्यवहार के ये तीन आधार हैं। मनुष्य ने अपने सारे व्यवहार को तीन भागो में विभक्त कर दिया। वह किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, किसी कार्य से निवृत्त होता है और किसी कार्य की उपेक्षा करता है। जो अच्छा नहीं है, उसे छोडता है। जो उपादेय है, उसमें प्रवृत्ति करता है। जो उपेक्षणीय है, उसकी उपेक्षा करता है। प्रत्येक व्यवहार के ये तीन आधार बनते हैं। यदि सारे व्यवहार का समीकरण करें तो वह इन तीनो में समाहित हो जाएगा।

व्यवहार अपने तक सीमित नहीं रहता। विचार स्वगत होता है। वचन और व्यवहार प्रसरणशील हैं, बाहर जाते हैं। हमारा वचन दूसरे तक पहुचता है। हमारा व्यवहार दूसरे को प्रभावित करता है, दूसरे को छूता है। वचन और व्यवहार दोनो एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इन तीनों पर एक नई दृष्टि से विचार करना है।

भगवान महावीर ने अनेकात दृष्टि की प्रस्थापना की। इस विषय की विशद मीमासा हुई कि हम अपने विचार, वचन और व्यवहार को पहले अनेकात दृष्टि से देखें फिर उसका प्रयोग करें। अनेकात दृष्टि से देखने पर तीन बातें प्रतिफलित होगी– विचार का आग्रह नहीं होगा, वचन का विवाद नही होगा ओर व्यवहार का असतुलन नहीं होगा।

सामान्यत प्रत्येक आदमी में अपने विचार को अतिम मान लेने की मनोवृत्ति होती है। वह अपने प्रत्येक विचार को अतिम मान लेता है। यह वृत्ति एक आदमी में ही नहीं, दुनिया के सभी लोगों में उपलब्ध है। किसी में कुछ कम है, किसी में कुछ अधिक है। हर आदमी सोचता है कि मैं जो सोचता हूँ, वह बिलकुल ठीक है, सही है। जिनमें विचार का आग्रह होता है, जिनमें विचार करने की क्षमता कम है, वे अल्पज्ञ हैं। प्राय देखा जाता है–जो व्यक्ति चितन से दरिद्र होते हैं, वे अपने विचार को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। वे सोचते हैं, उनका विचार किसी सर्वज्ञ से कम नहीं है। सर्वज्ञ भी शायद कहीं सोचने में भूल कर सकते हैं, कितु वे जो सोचते हैं, उसमें कहीं भूल नहीं हो सकती।

विचार का आग्रह एक आदर्श बन गया। यह आदर्श आनुवशिक भी हो सकता है, पारपरिक भी हो सकता है। किन्तु, विचार का आग्रह मनुष्य की एक आदत बन गई है, यह स्पष्ट तथ्य है। जहा विचार मनुष्य की मौलिक विशेषता है, वहा विचार का आग्रह मनुष्य की मौलिक समस्या भी बना हुआ है।

वचन भी मनुष्य की विशेषता के साथ एक समस्या भी बना हुआ है। आदमी जल्दी ही विवाद खडा कर देता है। हर बात विवाद बन जाती है। सुजानगढ से लाडनू कितनी दूर है? एक व्यक्ति कहेगा–बारह किलोमीटर दूर है। दूसरा कहेगा–बारह नहीं, तेरह किलोमीटर दूर है। आस-पास दस व्यक्ति खडे हैं, कितु सबका कथन अलग-अलग ही होगा। वचन एक जैसा निकल जाए–यह भाग्य से ही कहीं मिलता है। एक व्यक्ति कहेगा–आज भोजन अच्छा बना है। दूसरा तत्काल प्रतिवाद करेगा–क्या खाक अच्छा बना है, बिलकुल खराब बना है। कोई कहेगा–नमक नहीं है, कोई कहेगा नमक बहुत ज्यादा है और बात-बात में एक विवाद खडा हो जाएगा। वचन हो और विवाद न हो–यह भाग्य से ही कहीं-कहीं खोजा जा सकता है।

व्यवहार भी एक समस्या है। कोई आदत बन गई और कहा जाए कि इस आदत को छोडो। यह आदत बुरी है। तम्बाकू पीते हो, शराब पीते हो, मादक वस्तु का सेवन करते हो, यह अच्छा नहीं है। पान-पराग खाते हो, जर्दा खाते हो, यह अच्छा नहीं है।

मनुष्य कहता है–ये कैसे छूट सकते हैं ? मैं इन्हें छोड नहीं सकता। प्राय 90 व्यक्ति यही कहेंगे कि मैं ऐसा नहीं कर सकता। किसी की आदत है झगडा करना। उससे कहा जाए कि एक परिवार में रहना है तो झगडा मत करो। उसका कथन होगा–नहीं , मैं नहीं बदल सकता। पूरा जीवन इसी प्रकार से बिता दिया, इतने साल हो गए अब क्या बदलूगा ? मैं नहीं बदल सकता, मैं नहीं बदलूगा।

जब तक समन्वय का दृष्टिकोण विकसित नहीं होता, आदत को बदला नहीं जा सकता। छोड़ना, लेना और उपेक्षा करना–इन तीनो के योग का नाम है समन्वय। अगर मनुष्य के व्यवहार में ये तीनो बातें नहीं हैं तो वह शातिपूर्ण जीवन नहीं जी सकता।

38

सत्य का स्वरूप

प्रेक्षाध्यान की उपसम्पदा स्वीकार करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता हे– *'सच्चव्वत उवसपज्जामि'*– मैं सत्य का व्रत स्वीकार करता हूँ। ध्यान का सारा प्रयोजन है-सत्य की खोज। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता वह सत्य की खोज की दिशा में आगे नहीं बढ सकता। हमारे चारों ओर इतने सत्य हैं, इतने सूक्ष्म सत्य हें, जिन्हें स्थूल दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। उन्हें स्थूल मन से भी नहीं पकडा जा सकता। वे स्थूल चेतना के भी विषय नहीं वनते। उन्हें जानने-देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता हे, सूक्ष्म मन की आवश्यकता हे आर सूक्ष्म चेतना की आवश्यकता ह। ध्यान के विना दृष्टि को सूक्ष्म नहीं किया जा सकता, मन को पटु आर सूक्ष्म नहीं वनाया जा सकता। ध्यान के विना चेतना भी सूक्ष्म नहीं वन सकती।

चेतना पर राग-द्वेप ओर मल के आवरण जमे हुए हें, वे जव तक नहीं टूटते तव तक चेतना में सूक्ष्मता नहीं आ सकती। इसलिए ध्यान की साधना करने वाला सबसे पहले सत्य की खोज करता हे ओर वह सत्य की खोज अपने से ही प्रारम्भ करता हे। वह सत्य को वाहर नहीं खोजता, अपने में ही खोजता हें।

सत्य क्या हे ? यह प्रश्न अनादि काल से चर्चित रहा हे। जो ध्रुव हे, जो स्थिर है वह सत्य हे। पर, वही सत्य नहीं ह। परिवर्तन प्रत्यक्ष हे। उसे असत्य नहीं कहा जा सकता। जो परिवर्तन हे, वह सत्य ह, पर वही सत्य नहीं हे। स्थिति के बिना परिवर्तन होता ही नहीं। जो दृश्य हे वह सत्य ह, पर वह भी सत्य हे जो दृश्य नहीं है। सत्य के अनेक रूप हें। एकरूप अनेकरूपता का अश रहकर ही सत्य हे। उनसे निरपेक्ष होकर वह सत्य नहीं हे। सत्य किसी धर्म-प्रवर्तक द्वारा कृत नहीं है। वह सहज है अकृत है। वह धर्म-प्रवर्तक के द्वारा अज्ञात से ज्ञात ओर अनुद्घाटित से उद्घाटित होता है।

भगवान महावीर ने कहा—सत्य वही है, जो वीतराग के द्वारा प्ररूपित है। सत्य एक और अविभाज्य हे। जो सत् हे, जिसका अस्तित्व हे वह सत्य है। यह परम अभेद दृष्टि हे। इस जगत् में चेतन का भी अस्तित्व है और अचेतन का भी अस्तित्व है। इसलिए चेतन भी सत्य हे ओर अचेतन भी सत्य है। मनुष्य चेतन है, स्वय सत्य है, फिर भी उसका चेतन से सीधा सम्पर्क नहीं है और इसलिए नहीं है कि राग एव द्वेष उसका सत्य से सीधा सम्पर्क होने में बाधा डाले हुए हैं।

राग-रजित मनुष्य आसक्ति की दृष्टि से देखता हे, इसलिए सत्य उसके सामने अनावृत नहीं होता। द्वेष-रजित मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखता है, इसलिए सत्य उससे भय खाता है। सत्य उसी के सामने अनावृत होता है, जो तटस्थ दृष्टि से देखता है। तटस्थ दृष्टि से वही देख सकता है, जिसके नेत्र आसक्ति ओर घृणा से रजित नहीं होते।

हर सम्प्रदाय यही कहता है कि हमारा मत सत्य हे। अपने-अपने मत की सचाई की दुहाई देने के कारण ही असत्य को बढावा मिलता है। भगवान् महावीर ने कहा था कि अनेकान्त सत्य है, एकात सत्य नहीं है। जो समग्र है, सर्वांगीण है, वह सत्य है। फिर भी सूत्रकार ने यह कैसे कहा कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है।

असत्य का हेतु है-ग्रन्थि। जिसके मन में कोई ग्रन्थि नहीं होती उलझन नहीं होती, वह निर्ग्रन्थ होता है। असत्य का आग्रह सबसे बडी ग्रथि, सबसे बडी उलझन और सबसे बडा मिथ्यात्व है। जिसके मन की यह गाठ खुल जाती है वह सत्य की सीमा में प्रवेश पा जाता है। निर्ग्रन्थ प्रवचन में किसी मत का आग्रह नहीं है, एकांगी दृष्टि का स्वीकार या निरूपण नहीं है। उसमें केवल सत्यग्राही दृष्टि का प्रतिपादन है, इसलिए निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है। इसका अर्थ होता है कि अनेकान्त ही सत्य है या अनेकात द्वारा दृष्ट तत्त्व ही सत्य है।

अज्ञानी आदमी भी यह सब कुछ करता है। निर्ग्रन्थ ज्ञान और वीतरागता-दोनों की उपासना करता है। ज्ञानी और वीतराग का दृष्टिकोण सत्यग्राही होता है। इसलिए उसकी अनुभूति को-निर्ग्रन्थ प्रवचन को सत्य मानने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती।

भगवान् महावीर ने सत्य का सुन्दर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा-सत्य वही है जहा काया की सरलता है, भावो की सरलता है, वाणी की सरलता है और अविसवादिता है। अविसवादिता का अर्थ है-विसगतियो से परे हो जाना। एक दिन एक बात कहना और दूसरे दिन दूसरी बात कहना-यह विसगति है।

सत्य वह होता है, जो अविसवादी होता है। दस वर्ष पूर्व जो बात कही, वही बात पच्चीस वर्ष बाद कहेगा। वाणी में विसवादिता नहीं होगी।

39

सत्य का दर्शन

भरत चक्रवर्ती अपने काच-महल मे सिहासन पर स्थित होकर शरीर का अवलोकन कर रहे थे। अचानक उन्हें शरीर के परिवर्तन का बोध हुआ। यह वही शरीर है जो बचपन मे था और अब जवानी मे हे, पर कितना बदल गया। सब कुछ परिवर्तन हो रहा है, किन्तु परिवर्तन के पीछे जो एक अपरिवर्तनीय सत्ता हे, वह जैसे पहले थी अब भी वैसी ही है और आगे भी वैसी ही रहेगी। दृष्टि उपलब्ध हो गई। एक के अनित्य का दर्शन सबकी अनित्यता का दर्शन है। जैसे यह शरीर बदल रहा है वैसे ही पुद्गलो का परिवर्तन चल रहा है। वे इस चिंतन की गहराई मे डूबे और सबोधि—केवल-ज्ञान को उपलब्ध हो गए।

कारलाइल के जीवन मे भी ऐसी ही घटना घटी। वह अस्सी वर्ष की अवस्था पार कर चुका था। अनेक बार बाथरूम मे गया था, किन्तु जो घटना उस दिन घटी, वह कभी नहीं घटी। स्नान के बाद शरीर को पौंछते-पौंछते देखता है, यह शरीर कितना बदल गया। जीर्ण हो गया। किन्तु, भीतर जो जानने और देखने वाला है वह जीर्ण नहीं हुआ, वह वैसा ही है। उसको परिवर्तनीय के साथ अपरिवर्तनीय की झाकी मिल गई।

वैज्ञानिक कहते हैं सात साल मे पूरा शरीर बदल जाता है। सत्तर वर्ष की अवस्था मे दस बार सब कुछ नया उत्पन्न हो जाता है। लेकिन इस परिवर्तन की ओर दृष्टि बहुत कम जाती हे। साधक के पास सबसे निकट शरीर है। जड-चेतन जगत जो निकट है वह उसे एक विशिष्ट दृष्टि से देखे और अनुभव करे कि यह जगत उसके लिए एक बडी प्रशिक्षण-शाला है जो निरन्तर प्रशिक्षण दे रही है। अनित्य भावना मे क्षण-क्षण बदलते हुए इस जगत का और स्वय के निकट जो है उसका दर्शन करे, अनुभव करें और उसके अन्त स्थित अपरिवर्तनीय आत्मा की झलक भी पाए।

ससार मे कोई सम्बन्ध शाश्वत नहीं है। जितने सयोग है वे सारे वियोग वाले हैं—'सयोगा विप्रयोगान्ता '। अगर हम इस सचाई तक पहुच जाते है, तो अशाश्वत को शाश्वत मानने की भ्राति खण्डित हो जाती है और पदार्थ के वियोग से होने वाले सारे असतोष समाप्त हो जाते हैं। उससे नई आदत ओर नए सस्कार का निर्माण होता है। जैसे पदार्थ के सम्बन्ध से एक आसक्ति का सस्कार बनता है, पदार्थ के चले जाने पर वह सस्कार दु·ख देता है वैसे ही यदि पदार्थ के विसबध का सस्कार अनुप्रेक्षा के द्वारा निर्मित हो जाए, तो आदमी कभी सतप्त नहीं होगा। वियोग पहला छोर है, सयोग दूसरा

छोर है। ये दोनो सचाइया एक साथ प्रतीत होने लग जाए। सम्बन्ध की भाति विसम्बन्ध की आदत भी निर्मित हो जाए तो आदमी पदार्थ के जगत मे घटित होने वाली यथार्थ की समस्याओ का यथार्थ की भूमिका पर खडा होकर सामना कर सकता है।

शरीर मे कम्पन हो रहे है। वे निरन्तर होते है, यह जानना प्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा मे यह जानना होता है कि वे कम्पन अनित्य हैं। कम्पन स्थायी नहीं होते। वे है क्षणभगुर, क्षणिक। एक क्षण मे कम्पन हुआ और दूसरे क्षण मे मिट गया। कम्पन अनित्य होता है। शरीर मे होने वाले सारे कम्पन अनित्य है। इस प्रकार की अनुप्रेक्षा करते-करते उस बिन्दु पर पहुँच जाते है, जहाँ जाने पर मूर्च्छा का चक्र टूट जाता है।

मनुष्य अपूर्ण है। वह अपूर्ण है, इसलिए बाह्य वस्तुओ से पूर्ण होने का प्रयत्न करता है। उसे दु ख, अशाति, दरिद्रता आदि अनेक समस्याओ का सामना करना पडता है। वह उस सघर्ष मे विजयी होने के लिए दूसरो का सहारा चाहता है, त्राण और शरण की अपेक्षा रखता है। सामाजिक जीवन में त्राण और शरण मिलती भी है किन्तु यह तात्कालिक सत्य है। त्रैकालिक सत्य यह है कि अपने पुरुषार्थ पर आदमी निश्चित रूप से भरोसा कर सकता है। वस्तुत , त्राण या शरण अपने पुरुषार्थ मे ही निहित है, अन्यत्र नहीं। इस अतिम सचाई के आधार पर स्वय मे स्वय का त्राण खोजना और दूसरो के त्राणदान मे ऐकान्तिक व आत्यन्तिक कल्पना न करना अशरण भावना है। इस भावना से भावित मनुष्य का कर्त्तव्य प्रबल हो उठता है और दूसरो के द्वारा विश्वासघात होने पर उसका धैर्य विचलित नहीं होता।

ध्यान-साधक बहुत जागरूक रहता है। वह भ्रातियो को तोडता रहता है। यह एक बहुत बडी भ्राति है कि आदमी हर एक को शरण मान लेता है। व्यवहार मे ऐसा मानना पडता है, पर यह अंतिम सच्चाई नही है। हर एक चीज त्राण नहीं होती। हमारा यह विवेक स्पष्ट होना चाहिए कि हम व्यवहार को अतिम सचाई न माने। व्यवहार व्यवहार होता है और यथार्थ यथार्थ।

व्यवहार की सचाई है—जब तक स्वार्थ जुडा रहता है तब तक एक दूसरे के लिए त्राण या शरण बने रहते है। जहा स्वार्थ को धक्का लगा कि त्राण समाप्त हो जाता है, शरण समाप्त हो जाती है। वह पश्चात्ताप करता है—अरे। मैंने इसके पालन पोषण के लिए कितना किया, आज यह मेरे साथ ऐसा व्यवहार कर रहा है ? उस व्यवहार के कारण कोई दु.खी नही होता, दु खी होता है नियम की विस्मृति के कारण। व्यक्ति जब व्यवहार को, पदार्थ को और व्यक्ति को अतिम सत्य मान लेता है, त्राण मान लेता है तब उसे दु खी होना पडता है। यह है अशरण अनुप्रेक्षा। व्यवहार मे अनेक पदार्थो को त्राण मानते चले, किन्तु सच्चाई को न भूले कि वास्तविक या अतिम त्राण अपना ज्ञान, अपना दर्शन, अपना आचरण तथा अपना व्यवहार होता है।

आत्मा का मौलिक स्वरूप चेतना है। उसके दो उपयोग हैं—देखना और जानना। हमारी चेतना शुद्ध स्वरूप में हमें उपलब्ध नहीं है, इसलिए हमारा दर्शन और ज्ञान निरुद्ध है, आवृत है। जो दर्शन का आवरक है उसे दर्शनावरण और जो ज्ञान का आवरक है उसे ज्ञानावरण कहा जाता है। यह आवरण अपने ही मोह के द्वारा डाला गया है। हम केवल जानते नहीं हैं और केवल देखते नहीं हें। जानने-देखनें के साथ-साथ प्रियता या अप्रियता का भाव बनता है। वह राग या द्वेष को उत्तेजित करता है। राग और द्वेष मोह को उत्पन्न करते हैं। मोह ज्ञान और दर्शन को निरुद्ध करता है। यह चक्र चलता रहता है। उस चक्र को तोडने का एक ही उपाय है, वह है ज्ञाताभाव या द्रष्टाभाव, केवल जानना और केवल देखना। जो केवल जानता-देखता है, वह अपने अस्तित्व का उपयोग करता है। जो जानने-देखने के साथ प्रियता-अप्रियता का भाव उत्पन्न करता है, वह अपने अस्तित्व से हट कर मूर्च्छा में चला जाता है।

व्यवहार के धरातल पर यह चिन्तन उभरता है और ऐसा लगता है कि अकेलेपन की बात सर्वथा अव्यावहारिक और असामाजिक है। ऐसा लग सकता है। व्यवहार का अर्थ ही होता हे—स्थूल। जब व्यक्ति स्थूल भूमिका पर खडा रह कर सोचता है तब वह ऐसा ही सोच पाता है। ऐसा सोचना उस भूमिका की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण नही है। यह सच है कि एक ईट से कभी मकान नहीं बनता। यह कहावत भी सच है कि ईट से ईंट बजती है। जहा दो मिलते है वहा शक्ति पैदा हो जाती है। जहा दो मिलते हैं वहीं सघर्ष पेदा होता है, चिनगारिया उछलती हे। दो होने के साथ विशेषताए भी हैं और दो होने के साथ कठिनाइया और समस्याए भी हैं। दो ने कभी लडाई न की हो, ऐसा कहीं नही मिलता तो अकेले आदमी ने कभी लडाई की हो, ऐसा भी कहीं नही मिलता। दो में कभी न कभी टकराहट हो ही जाती हे। निरन्तर साथ रहने वाले पिता-पुत्र, पति-पत्नी भी बिना टकराहट के नहीं रह पाते। प्रतिबिम्ब से भी टकराहट हो जाती है। चिडिया काच पर बैठती है और अपने ही प्रतिबिम्ब से लडने लग जाती है। वह प्रतिबिम्ब मे दिख रही चिडिया के तब तक चोच मारती है, जब तक कि उसकी चोच घायल नहीं हो जाती। शेर ने पानी मे अपना प्रतिबिम्ब देखा और उसे मारने के लिए दौडा। वह पानी में डूबकर मर गया, अपने प्राण न्यौछावर कर दिए, किन्तु वह बिना टकराहट के नही रह सका। जब प्रतिबिम्ब से भी टकराहट हो जाती है तो साक्षात् मे बिना टकराहट के रहना असभव-सा हो जाता है।

उपनिषद्कार कहते हैं—'द्वितीयाद् वै भयम्'—जब दूसरा होता है तब भय उत्पन्न होता है। जब दूसरा होता है तब कार्य में बाधा आती है, स्वतत्रता खडित हो जाती है। अकेले में व्यक्ति जो कुछ चाहे कर सकता है, किन्तु जब दूसरे के आने की आशका होती है तब वह सावधान हो जाता है, मनचाहा कर नहीं सकता। इस प्रकार दूसरा होता है

तब आशका उत्पन्न होती है, भय होता है, सघर्ष होता है। इस पहलू को ध्यान में रखना है। अकेला होना अस्वाभाविक नहीं है, असामाजिकता नहीं है। जो व्यक्ति समाज में रहता हुआ भी अपने आपको अकेला अनुभव करता है वह हजारो समस्याओ से बच जाता है।

एक सस्कृत कवि ने लिखा–जो भवरा काठ को भेदकर चला जाता है, वही भवरा कमलकोष में बंद हो जाता है। उसे भेदकर बाहर नहीं निकल पाता। कहा काठ और कहा कमलकोष! राग का बन्धन इतना तीव्र होता है कि वह उसे तोड नहीं पाता, भेद नहीं पाता। अनुकूलता को सहन करना बहुत बडी समस्या है। अकेला होने वाला व्यक्ति, अकेलेपन की साधना करने वाला व्यक्ति सबसे पहले उस राग के बन्धन को तोडने की बात सीख लेता है।

समाज कभी अप्रियता के आधार पर नहीं जुडता। सम्बन्ध कभी अप्रियता के आधार पर नहीं बनते। दण्डशक्ति का उपयोग करने वाला दूसरे को कष्ट दे सकता है, दु खी बना सकता है, पर सम्बन्ध नहीं बना सकता। सारे-के-सारे सम्बन्ध जुडते हैं प्रेम और आत्मीयता के आधार पर। जो प्रेम का धागा है, उसी के आधार पर राग के सम्बन्ध स्थापित होते हैं। किन्तु, साधना और ध्यान करने वाला व्यक्ति इस सचाई को समझ लेता है कि इस धागे के आधार पर हमने यह सम्बन्ध स्थापित किया है, किन्तु यह प्रेम-स्नेह का धागा भी अन्तिम सचाई नहीं है। अन्तिम सचाई है कि 'मैं-मैं' और 'तू-तू'। बहुत कटु बात लग सकती है, अव्यावहारिक लग सकती है, किन्तु हम इस सचाई को झुठला नहीं सकते।

'मैं शरीर से भिन्न हूँ और शरीर मुझसे भिन्न है'–यह अन्यत्व भावना है, अनुप्रेक्षा है। जैसे-जैसे अन्यत्व की भावना पुष्ट होती चली जाती है, वैसे-वैसे आत्मा का ज्ञान, आत्मा का प्रकाश फैलता जाता है और मोह का अधकार विलीन होता चला जाता है। अन्यत्व की भावना के जागरण के साथ अनेक ग्रथिया खुल जाती है। शरीर को अपना मानकर जितने तनाव पैदा किए थे, जितनी ग्रथियो का पात हुआ था, वे सारे तनाव मिट जाते हैं, वे सारी ग्रथिया खुल जाती है। व्यक्ति तनावो और ग्रथियो से मुक्त हो जाता है।

दर्द किसको होता है, आत्मा को या शरीर को ? आत्मा को कोई दर्द नही होता। हमने अपनी सारी चेतना को दर्द के साथ जोड़ रखा है और इस मान्यता के आधार पर जोड रखा है कि दर्द मुझे हो रहा है, तभी आपको यह सारा दर्द हो रहा है। यदि भेद-ज्ञान स्पष्ट हो जाए, अन्यत्व का चितन स्पष्ट हो जाए तो हम स्वास्थ्य के एक ऐसे वातायन मे जाकर बैठेगे जहा से द्रष्टा की भाति देख सकेगे कि यह रहा दर्द और यह रहा मै। यह रहा पथिक और यह रहा मैं। जैसे वातायन पर बैठा आदमी रास्ते चलते

आदमी को देखता है, वैसे ही वह कष्ट को अलग देखेगा और अपने को अलग देखेगा। अन्यत्व भावना के विकसित होने पर यह स्थिति बनती है। यदि यह तत्त्व-चितन की बात होती तो मेरी बात का प्रतिपक्ष भी होता, मेरे तर्क का प्रतितर्क भी होता, मेरी उक्ति की प्रत्युक्ति भी होती, किन्तु यह साधना की बात है, अनुभव की बात है। साधक भेद-ज्ञान को प्राप्त करे, विवेक चेतना का जागरण करे, आत्मा की भूमिका पर आकर आत्मा और शरीर के अन्यत्व की अनुप्रेक्षा की बात करे, कायोत्सर्ग की साधना करे। उस भूमिका पर पहुच कर वह यह अनुभव करे कि ऐसा हो सकता है या नही।

40

विविधआयामी सत्य

दो तत्त्व हैं—चेतन और अचतेन। अनेकान्त ने दोनों के मध्य रहे हुए सम्बन्ध की खोज की और तीसरा नियम दिया कि चेतन और अचेतन मे न सर्वथा विरोध है और न सर्वथा अविरोध है। हम नहीं कह सकते कि चेतन अचेतन का सर्वथा विरोधी है और यह भी नही कह सकते कि अचेतन चेतन का सर्वथा विरोधी है। यदि वे सर्वथा विरोधी होते तो आत्मा अलग होती, शरीर अलग होता। आत्मा और शरीर—दोनों इसीलिए जुडे हुए हैं कि उनमे सर्वथा विरोध नहीं है।

बहुत बार यह प्रश्न दार्शनिक जगत मे उभरता है कि अमूर्त्त आत्मा मूर्त्त शरीर के साथ कैसे जुडी ? अमूर्त्त आत्मा मूर्त्त कर्म के साथ कैसे जुडी ? चेतन आत्मा अचेतन शरीर के साथ कैसे जुडी ? यदि हम दोनों को सर्वथा विरोधी मान ले तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नही दिया जा सकता। यदि हम यह माने कि ये दोनों सर्वथा विरोधी नहीं हैं तो समाधान मिल सकता है। सर्वथा विरोध हो तो जुड़े नही रह सकते।

अनेकान्त ने सूक्ष्म और स्थूल—दोनों नियमों की व्याख्या की और दो कोण हमारे सामने प्रस्तुत कर दिए। एक कोण है—निश्चय नय और दूसरा कोण है—व्यवहार नय। यदि सूक्ष्म सत्यो को जानना हो तो निश्चय नय का सहारा लो और स्थूल नियमों को जानना हो तो व्यवहार नय का सहारा लो।

जब ये दोनो नय सापेक्ष होते हैं, समन्वित होते हैं, तब हम इस सचाई तक पहुच जाते हैं कि भेद और अभेद भिन्न-भिन्न नहीं, किन्तु समन्वित रहते हैं। अस्तित्व और नास्तित्व भिन्न नहीं होते, किन्तु समन्वित रहते हैं। समन्वय की एक बडी धारा हमारे सामने प्रवाहित हो जाती है। इस समन्वय की धारा के आधार पर मध्यकाल में जैन आचार्यों ने बहुत बडा काम किया और प्रत्येक दर्शन के साथ समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया।

पर्याय अनन्त हैं। हमारे भीतर अनन्त सम्भावनाए छिपी हुई हैं। कोयला हीरा बन सकता है। आज तो यह निश्चित मान्यता हो गई कि कोयला ही हीरा बनता है। कोयले में हीरा बनने की सम्भावना छिपी हुई है। हर पदार्थ में सब कुछ बनने की सम्भावना होती है। यह अनेकान्त की स्वीकृति है। असम्भावना तो बहुत ही थोडी है। चेतन अचेतन नहीं बन सकता और अचेतन चेतन नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त सब कुछ बनाया जा

सकता है। कोई भी ऐसा नियम नहीं है कि जो एक दूसरे में न बदल सके या न बन सके। सब कुछ बना जा सकता है। सारी सम्भावनाए हैं। मिट्टी के एक कण में सारे वर्ण, गध और सारे स्पर्श होते हैं। मिट्टी का एक कण चीनी से अनन्त गुना मीठा होता है।

अनेकात की दृष्टि का फलित समन्वय और सद्भाव है। इसके लिए समन्वय के पाच सूत्रों का अधिक-से-अधिक प्रसार किया जाए। पाच सूत्र इस प्रकार हैं-

1 मण्डनात्मक नीति वरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक अथवा लिखित आक्षेप न किया जाए।

2 दूसरो के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

3 दूसरे सम्प्रदाय ओर उसके अनुयायियो के प्रति घृणा ओर तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

4 कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवाछनीय व्यवहार न किया जाए।

5 धर्म के मौलिक तत्त्वो—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी वनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

प्राचीन साहित्य में 'स्यात्' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। मैं उसे नए अर्थ में प्रस्तुत करना चाहता हूँ। स्यात् शब्द का अर्थ हे—अपनी अक्षमता का स्वीकार, भाषा की अक्षमता की स्वीकृति। स्यात् शब्द का प्रयोग करने वाला व्यक्ति यह स्वीकृति पहले ही दे देता है कि मैं जो कह रहा हूँ उसे पूर्ण सत्य मत मान लेना, उसे निरपेक्ष सत्य मत मान लेना, अखण्ड सत्य मत मान लेना। में केवल सत्य के एक पर्याय का, एक अश का प्रतिपादन कर रहा हूँ। तुम्हें केवल एक अश से परिचित करा रहा हूँ। साथ ही साथ मैं पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में अपनी असमर्थता प्रकट करता हूँ कि मुझसे पूरा सत्य कहा नहीं जा सकता। में तुम्हें सत्य के निकट ले जा रहा हूँ। यह है 'स्यात्' शब्द की सार्थकता।

'स्यात्' शब्द सापेक्षता का सूचक है। उसके बिना सत्य को जाना नहीं जा सकता और उसकी व्याख्या भी नहीं की जा सकती। यह सचाई ढाई हजार वर्ष पूर्व प्रकट हो चुकी थी, किन्तु हमारे दार्शनिक इसे पकड नहीं पाए। हमें साधुवाद देना चाहिए आज के वैज्ञानिक को जिसने यह सप्रमाण प्रतिपादित किया कि सापेक्षता के बिना सत्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। उसने इस सचाई को इतनी प्रखरता से पकडा कि आज समूचा विज्ञान सापेक्षता के सिद्धात पर चल रहा है। सापेक्षता का सिद्धात जब तक विकसित नहीं हुआ था, तब तक की सारी मान्यताए, विज्ञान की सारी धारणाए आज मिथ्या प्रमाणित हो रही हैं। आज भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में, गणित के क्षेत्र मे, साख्यिकी विज्ञान के क्षेत्र में, अनेकात का खुलकर प्रयोग किया जा रहा है, सापेक्षता का उपयोग

मुक्तभाव से हो रहा है। आज विज्ञान की महत्त्वपूर्ण मान्यता है कि सापेक्षता के बिना किसी तत्त्व की व्याख्या नहीं की जा सकती। जब महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने कहा कि देश और काल सापेक्ष हैं, तब वैज्ञानिक जगत में एक भयकर हलचल हुई थी। अनेक वैज्ञानिको ने इसको स्वीकार नहीं किया। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि देश ओर काल सापेक्ष कैसे हो सकते हैं। किन्तु, धीरे-धीरे यह सापेक्षता बुद्धिगम्य होती गई, प्रमाणित होती गई।

आज देश, काल की सापेक्षता का सिद्धांत सर्वमान्य हो गया। हम सारी घटना की व्याख्या देश और काल के आधार पर करते हें, किन्तु यह भुला देते हैं कि देश और काल सापेक्ष हैं। देश-काल के सापेक्ष होने की बात एक वैज्ञानिक ने कही, न कि अनेकान्त और स्याद्वाद को मानने वाले जैनों ने। उन्होने इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया। कितना अच्छा होता कि जो बात आइन्स्टीन ने कही वह बात कोई जेन दार्शनिक कहता, अनेकान्तवाद को मानने वाला प्रतिपादित करता। क्या उनके सामने ये कल्पनाए स्पष्ट नहीं थीं ? सापेक्षता का विचार स्पष्ट नहीं था ? सारी कल्पनाए और विचार स्पष्ट थे, पर नए सदर्भ में उसके कथन की बात नहीं सूझी।

क्या जैन मानते हैं कि काल निरपेक्ष है ? नहीं, काल सर्वथा सापेक्ष है। हमने काल को तीन भागो में विभाजित किया—भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकाल। क्यों विभाजित किया ? काल कभी विभक्त होता नहीं, टूटता नहीं। काल कभी ऐसा नहीं होता कि आप उसे अतीत मानें।

आज का वैज्ञानिक इस ओर परीक्षण में सलग्न है कि दो हजार, पाच हजार वर्ष पूर्व हुए महावीर, बुद्ध, कृष्ण आदि महान् व्यक्तियो को साक्षात सदेश देते हुए आज के आदमी को दिखा दिया जाए। वर्तमान में जीने वाला आदमी महावीर को समता और अहिसा का प्रवचन करते हुए, बुद्ध को करुणा का सदेश देते हुए और कृष्ण को गीता का उपदेश करते हुए साक्षात् देख ले, उसे दिखा दिया जाए। क्या ऐसा सम्भव हो सकता है ? साधारण व्यक्ति के लिए यह असम्भव प्रतीत हो सकता है क्योंकि जो मर चुके, समाप्त हो चुके, जिनके पार्थिव शरीर जला दिए गए, उनको कैसे दिखाया जा सकता है ? यह तो अतीत की घटना हो गई। अतीत को वर्तमान के रूप में कैसे रूपायित किया जा सकता है ? मेरे लिए और आपके लिए यह अतीत की घटना हो सकती है, किन्तु देश और काल को सापेक्ष मानने वाले वैज्ञानिक के लिए यह अतीत की घटना नहीं है।

आज एक नई कठिनाई पैदा हो गई है। आज के लोग धर्म और सम्प्रदाय या मजहब को एक मान बैठे हैं। लोग कह देते हैं, धर्म के कारण कितनी लडाइया लडी गईं ? कितना रक्त बहा ? कितने देश उजडे ? किन्तु, धर्म के कारण ऐसा कभी नहीं हुआ और न होगा। यह सब होता है सम्प्रदाय के कारण। धर्म और सम्प्रदाय इतने घुलमिल गए

कि जो सम्प्रदाय के नाम पर घटित हुआ, वह सारा धर्म पर आरोपित हो गया। इसलिए धर्म को बदनाम होना पडा। यदि कोई आदमी धर्म तक पहुच जाए तो वहा न लडाई है, न द्वेष है और न झझट है। धर्म का अर्थ है, राग-द्वेष-मुक्त जीवन जीना। जब कोई भी आदमी राग-द्वेष-मुक्त जीवन जीएगा तो लडाइया कहा उभरेंगी ? लडाइया धर्म के कारण नहीं, सम्प्रदाय के कारण हुई हैं, होती हैं। सम्प्रदाय के आवरण में बेचारा धर्म आवृत हो गया। इसीलिए आज धर्म की भाषा समझ में नहीं आ रही है। यह एक समस्या है।

41

आस्था

एक सत्य समझ में आ जाता है तो हमारी आस्था का आधार बन जाता है। हमारी आस्था बदल जाती है। हमें इस बात का अन्वेषण करना है कि हमने किस आस्था को पकड़ा है और किस आस्था के आधार पर अपना कदम आगे वढ़ाया है ? हमारी आस्था क्या है ? क्या हमने इस सचाई को पकडा है और इस आस्था को वनाया है कि जीवन का हर क्षण अस्थिर है ?

भगवान महावीर की वाणी में एक बडा मार्मिक सकेत मिलता है, आस्था का महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध होता है। जब एक साधक के मन में, एक आध्यात्मिक व्यक्ति के मन में कोई काम जागे, लालसा जागे, भोग की भावना जागे, आहार की आसक्ति जागे तब वह सोचे–*'न मे चिर दुक्खमिण भविस्सई'*। चाहे गर्मी सता रही है, चाहे खाने की कोई इच्छा सता रही है। प्रत्येक मुमुक्षु सोचे– यह दु ख चिरकालिक नहीं है। सब अशाश्वत है, कोई भी शाश्वत नहीं है। दु ख का क्षण आया है और चला जाएगा। दूसरा क्षण आ जाएगा। हमेशा एक-सा पर्याय नहीं रहता। कभी राग का पर्याय आ गया, कभी द्वेष का पर्याय आ गया, कभी वीतरागता का पर्याय आ गया। पर्याय बदलता रहता है।

ये जितनी कामनाए, जितनी वासनाए, जितनी इच्छाए और जितनी आकाक्षाए पैदा होती हैं, वे सब क्षणिक हैं और क्षण भर के बाद चली जाने वाली हैं। यदि इस सचाई को हम पकड लेते हैं तो हमें दु ख नहीं होता, अपनी आस्था से डगमगाने का मौका नहीं मिलता। ऐसा भी हो सकता है कि कोई ऐसी आकाक्षा जाग जाए, जो बहुत समझाने-बुझाने पर भी शात नहीं होती। कोई तीव्र राग, तीव्र द्वेष, तीव्र आकाक्षा की भावना ऐसी जाग गई, जिसका शमन नहीं हो रहा है। ऐसी स्थिति को शात करने के लिए एक आलबन और दिया गया। मुमुक्षु सोचे–यह बीमारी नहीं जा रही है, किन्तु इस शरीर को चले जाना है। अभी नहीं जा रही है, कल चली जाएगी, परसो चली जाएगी। परसों भी नहीं जाएगी तो कम से कम शरीर के साथ अवश्य चली जाएगी। एक दिन शरीर को चले जाना है। यह स्थाई नहीं है। इस सचाई का उद्घाटन कर आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए एक ऐसा चिकित्सा का सूत्र दिया गया, जिसके आधार पर बहुत बडी चिकित्सा की जा सकती है, हर बीमारी की चिकित्सा की जा सकती है–जिस व्यक्ति ने इस सूत्र को गहराई से पकडा है, वह बहुत सारी कठिनाइयो से पार पा सकता है।

अध्यात्म में चिकित्सा के सूत्र भी बहुत बतलाए गए। आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, स्वाध्याय, तपस्या आदि अनेक सूत्र बतलाए गए। एक छोटा-सा प्रयोग—केवल दोनों नथुनों से श्वास लेना और बाए नथुनों से वेग के साथ निकाल देना। यह प्रयोग बडा महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इसमें न कोई धारणा, न कोई ध्यान, न कोई तपस्या। मात्र प्राणायाम का प्रयोग। किन्तु इससे अपनी इच्छा पर या इन्द्रियों पर नियत्रण करने की क्षमता विकसित हो सकती है। इन्द्रिय-विजय के लिए इसका प्रयोग किया जा सकता है।

अगर आस्था मजवूत न हो और हम सोचें—जब तक सुविधा है, ठीक वातावरण हे, अनुकूलता है तव तक इस मार्ग पर चलेंगे और जब ये स्थितिया नहीं रहेंगी तो दुनिया बहुत वडी है, दूसरा मार्ग अपना लेंगे। जव इस प्रकार की आस्था बन जाती है तब न निदान का प्रश्न प्रस्तुत होता हे, न चिकित्सा का प्रश्न प्रस्तुत होता है। निदान और चिकित्सा का प्रश्न आस्था पर निर्भर हे। यह आस्था जागे—मुझे जीना है, मरना नहीं है। अध्यात्म में रहने का मतलव है जीना ओर अध्यात्म के क्षेत्र से बाहर चले जाने का मतलव हैं मरना। जब जीने के प्रति दृढ आस्था होगी, निदान और चिकित्सा की बात आएगी। जहा आस्था ही नहीं हे वहा न निदान की जरूरत है और न चिकित्सा की जरूरत।

सवसे पहले हमारी आस्था मजवूत वने। प्रेक्षाध्यान में अनुप्रेक्षा का प्रयोग सकल्प का प्रयोग हैं। रात को सोते समय सकल्प दोहराया जाये और नींद टूटते ही पहला सकल्प मन में आए कि मुझे आध्यात्मिक जीवन जीना हे, मुझे अध्यात्म के क्षेत्र में विकास करना है, अपने व्यक्तित्व को आध्यात्मिक वनाना है। अगर इस सकल्प को कई बार कायोत्सर्ग की मुद्रा में शातभाव से दोहराया जाए तो आस्था पुष्ट बनेगी, सकल्प दृढ होगा। हम जिस सकल्प को लेकर चलते हैं और जब वह सकल्प पुष्ट बनता है तो रास्ता साफ हो जाता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि अध्यात्म के क्षेत्र में आने वाला व्यक्ति कोई प्रमाद नहीं करता, उसमें कोई अविरति नहीं होती, मिथ्या मान्यताए नहीं होतीं। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं हे। उसमें मिथ्या दृष्टिकोण भी हो सकता है, प्रमाद भी हो सकता है, कोई अविरति भी जाग सकती है। यदि सकल्प मजबूत है तो ये सारे अपने आप समाप्त हो जाएगे। आवश्यकता है पुरुषार्थ की और आवश्यकता है पराक्रम की। यदि आस्था ही प्रबल नहीं है तो कुछ नहीं होगा।

आयुर्वेद के आचार्यो ने चिकित्सा के बहुत सारे सूत्र दिए। एलोपैथिक के क्षेत्र में डाक्टरों ने चिकित्सा के बहुत सारे सूत्र दिए। अध्यात्म के आचार्यो ने भी चिकित्सा के हजारों-हजारों सूत्र दिए। कितु, जब से अध्यात्म के प्रयोग की बात कम हुई, वे सूत्र खोते

चले गए। आचार्य श्री तुलसी के अनुग्रह से ध्यान का पुन उन्नयन हुआ। आज सेकड़ों प्रयोग हमारे सामने प्रस्तुत हैं और वे बडे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहे हैं। इस स्थिति में निदान की बात और अधिक महत्त्वपूर्ण है। सबसे पहले स्वस्थ होने का सकल्प, आस्था को प्रबल बनाना, अपना निदान कराना और चिकित्सा के सूत्र खोजना—यह व्यक्तित्व विकास का महत्त्वपूर्ण क्रम है।

शिष्य ने पूछा—मैं रागचरित से ग्रस्त हूँ। क्या करूँ। गुरु ने कहा- नीले रग का ध्यान करो। शिष्य ने पूछा—भते! द्वेषचरित हूँ, मैं क्या करूँ? गुरु ने कहा—हरे रग का ध्यान करो। यह बात बहुत सरल लग सकती है, पर रागचरित व्यक्ति के लिए नीले रंग का ध्यान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह लेश्याध्यान का प्रयोग है। अनेक व्यक्ति सध्या करते हैं, किन्तु आज सध्या का वह विशुद्ध रूप नहीं रहा। एक ब्राह्मण के लिए सध्या करते समय लाल रग, सफेद रग और नीला रग—तीनो रगो का ध्यान करना जरूरी है, जिससे वह अपने राग पर नियत्रण रख सके और अपनी आध्यात्मिक चेतना का विकास कर सके। एक मुनि के लिए लेश्याओ का ध्यान करना जरूरी था, वह भी उतना नहीं रहा। ये सूत्र बहुत छोटे-छोटे हैं, किन्तु हैं बहुत महत्त्वपूर्ण।

भावनात्मक समस्याओ को सुलझाने के लिए और भावनाओ को ठीक रखने के लिए इन सूत्रो का प्रयोग बहुत आवश्यक है। केवल जरूरत इस बात की है कि हमारी दृष्टि तेज बने, तीक्ष्ण बने, हमारी देखने की क्षमता आगे बढ़े। हमारी आस्था बलवती हो।

42
आस्था और संकल्प

आदतो को बदलने के लिए हमें बहुत विशाल दृष्टि से देखना होगा, शब्दो की पकड से मुक्त होना होगा। शब्दो की पकड बहुत जटिल होती है, आदमी उसमे उलझ जाता है। शब्दो की पकड बडी मजबूत होती है, उसमे जकडा हुआ आदमी इधर-उधर नही हो सकता। हमे शब्दो की पकड से मुक्त होना है। जहा शब्दो की पकड होती है, केवल तर्क का जाल होता है, वहा सकल्प-शक्ति और मनोबल के विकास की सभावना नहीं की जा सकती। सकल्प-शक्ति, त्याग और मनोबल के अभाव मे आदमी महान् नहीं बन सकता।

जिसने अपने मनोबल का विकास कर लिया, वह व्यक्ति असभव लगने वाले काम को भी सभव कर लेता है। बडा ऑपरेशन करना है। डॉक्टर कहते है—व्यक्ति को मूर्च्छित करना होगा। डॉक्टर के इस परामर्श का प्राय लोग समर्थन और अनुपालन करते हैं। एक व्यक्ति कहता है कि मूर्च्छित करने की कोई आवश्यकता नही है, जो करना है वह कर लो। आचार्य श्री कालूगणी के समय की बात है। मुनि कुदनमलजी के मस्सा हो गया। उस समय डॉक्टर से ऑपरेशन नहीं कराते थे। मुनिश्री चौथमलजी ऑपरेशन कर रहे थे। मुनि जी के बहुत अधिक दर्द हो रहा था, फिर भी उन्होने कहा—'चौथमलजी। कमी न रह जाए, जितना काटना है उतना काट लो।' एक ओर यह बात कह रहे हैं दूसरी ओर भयकर पीडा हो रही है। क्या यह सभव है ?

जिसमे सकल्प शक्ति का विकास हो गया, मनोबल का विकास हो गया, उसके लिए यह सभव है। कायर, कमजोर आदमी के लिए बिल्कुल सभव नही है। ऐसे लोगो को भी देखा है कि ऑपरेशन किसी दूसरे का हो रहा है, थोड़ी सी चीर-फाड़ हो रही है और उसे देखने वाला चक्कर खाकर गिर जाता है।

हमारी क्षमता असीम है। जब हम इस सिद्धात को मानकर चलते हैं कि व्यक्ति आत्मा से परमात्मा बन सकता है, फिर अपनी क्षमता मे हम सदेह क्यो करे ? अविश्वास क्यो करे ? अनास्था क्यो करे ? इससे बडा सत्य के प्रति अन्याय क्या होगा ? इससे बड़ा सत्य को झुठलाने का उपक्रम क्या होगा ? हमे सबसे पहले इस आस्था को मजबूत बनाना है कि आत्मा परमात्मा बन सकता है, बनता है।

मैं वैज्ञानिक बात मे बहुत विश्वास करता हूँ पर आस्था के चमत्कार को भी नहीं नकारता। हर वर्ष आस्था के चमत्कारो की सैकडो घटनाए आती हैं। आखो देखी घटना को झुठलाया भी कैसे जा सकता है ?

सकता ? क्या कोई ऐसा सोच सकता है ? एक नियतिवादी ही ऐसा सोच सकता है कि मै आदत को नहीं छोड सकता और मैं नही बदल सकता। जिन लोगो ने पुरुषार्थवाद के मर्म को समझा है, वे कभी कल्पना नहीं करते कि मै छोड नहीं सकता। यह कितना बडा दर्शन है परिवर्तन का, बदलने का। इससे बडा क्या दर्शन हो सकता है ?

नियतिवाद ने अकर्मण्यता और निराशा को जन्म दिया। उसके अनुसार जिनके भाग्य में जैसा लिखा है, वैसा हो जाएगा। जेसा कर्म मे लिखा हुआ है, हो जाएगा। करने को कुछ शेष नही होता, बदलने की बात ही नहीं आती। हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहो, जो होता है उसे देखते रहो। अपने लिए करने का कुछ नहीं। भगवान जाने, राम जाने। पदयात्रा मे हमें ट्रक मिलते हैं। ट्रक के पीछे लिखा रहता है—राम भरोसे। जब-जब यह देखता हूँ मन मे आता है कि शराब पीकर नहीं चलाओगे तब तक ठीक है, तुम्हारे भरोसे चलता है। अगर शराब पीकर चलाओगे तो भरोसा दूसरे का भी काम नहीं आएगा। ध्यान से चलाओगे तो तुम्हारा भरोसा भी काम कर जाएगा।

हम परिवर्तन की बात सोचे, पुरुषार्थ के मर्म को समझे, अपनी शक्ति को पहचाने।

परिवर्तन का एक चरण है—सकल्प-शक्ति को जगाना। मनुष्य की सकल्प-शक्ति बहुत कमजोर है। आदमी सकल्प करना, त्याग करना, प्रतिज्ञा करना, नियम करना नहीं जानता। उसमे यह सकल्प-शक्ति नहीं है कि मै इस आदत को बदल दूँ। हमारे भीतर त्याग की क्षमता है, छोड़ने की क्षमता है। उसके लिए संकल्प का प्रयोग कराया जाता है। हाथ यहा है, उसे उठाना नहीं है। सकल्प का प्रयोग किया, हाथ अपने आप उठ कर दर्शन केन्द्र पर लग जाएगा। क्या आपने हाथ उठाया ? आपने नहीं उठाया। आपके सकल्प ने आपके हाथ को उठाया है। जिन लोगो ने प्रयोग किया है, वे जानते हैं कि सकल्प के द्वारा हाथ अपने आप उठने लग जाता है। यह माना जाता है कि सारी सृष्टि सकल्प से पैदा हुई है। सकल्प का बडा मूल्य होता है। सकल्प होने पर कल्पना मजबूत बन जाती है कि मुझे भी यह करना है। या तो मैं यह करूँगा या मरूँगा, इतना दृढ सकल्प पैदा हो जाता है तो असम्भव लगने वाली बात सम्भव बनने लग जाती है, अघटित घटनाए घटित होने लग जाती है।

परिवर्तन का अगला चरण है—मनोबल। ध्यान के प्रयोग द्वारा मनोबल का विकास होता है, प्राण ऊर्जा का जागरण होता है। जब प्राण ऊर्जा मन के साथ जुड जाती है तब हर सकल्प आचरण मे बदल जाता है। शक्ति-बोध, विवेक, सकल्प और मनोबल—इन चारो का विकास मनुष्य मे हो सकता है।

44

परिवर्तन

आज के वैज्ञानिक बदलने की बात में बहुत लगे हुए हैं। सारी की सारी जो 'जेनेटिक इजीनियरिंग' है, वह बदलने की बात मे लगी हुई है। जीन को बदला जाए। जीन बदलेगा तो सारी पीढी बदल जाएगी। मनुष्य का निर्माण होगा तो नई पीढी का निर्माण होगा और वह निर्माण हम चाहेंगे वैसा होगा। आदमी जैसा बीज बोता है वैसी खेती होती है।

वैज्ञानिको की कल्पना है कि ऐसा समय आने वाला है जब हम आदमी को जैसा चाहें वैसा पैदा कर सकेगे। साहित्यकार पैदा करना है तो साहित्यकार को पैदा कर सकेगे। कलाकार पैदा करना है तो कलाकार को पैदा कर सकेगे। लेखक पैदा करना है तो उसे पैदा किया जा सकेगा। मनुष्य ने इतना ज्ञान विकसित किया है कि वह जीन को बदलने की स्थिति में पहुच गया है। रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा जीन को बदलने की बात हो रही है।

हमारे ध्यान में कोई रासायनिक प्रक्रियाए नहीं हैं। हमारे पास न प्रोटीन हैं, न एसिड्स हैं और न दूसरे रासायनिक तत्त्व हैं। न आर.एन ए, न डी एन ए, कोई भी नहीं है। फिर परिवर्तन की क्या बात करें? यह यथार्थता होनी चाहिए कि जो आदमी जिस प्रकार का सस्कार लेकर आया है वैसा ही रहेगा, वैसा बनेगा। जैसा जिसका सस्कार है, जैसा जिसका भाग्य है, जैसा कर्म है, वैसा रहेगा। परिवर्तन की बात को जिन लोगो ने अस्वीकार किया, उन्होने सारी व्यवस्था को नियति की सज्ञा दे दी। हम नियत हैं। जो जैसा है, वैसा है। जो है, वह है। कोई परिवर्तन होने वाला नहीं है। परिवर्तन का सारा सूत्र नियति के हाथ में है।

किन्तु, पुरुषार्थवादी दर्शन ने इस नियति के दर्शन को स्वीकार नहीं किया। उनका सूत्र यह रहा कि हम बदल सकते हैं। कर्म को बदल सकते हैं, भाग्य को बदल सकते हैं और बहुत प्रयत्न किया जाए तो शरीर को भी बदला जा सकता है। यदि शरीर-प्रेक्षा के द्वारा प्रत्येक कोशिका को, प्रत्येक 'सेल' को, हम अपनी भावना से प्रभावित कर सके तो अपने शरीर को भी बदला जा सकता है। ज्ञान को बदला जा सकता है, दृष्टि को भी बदला जा सकता है और आने वाले प्रवाह और भाग्य को भी बदला जा सकता है। यह सब हमारे हाथ में है।

बदलने के तीन महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अपने आपको बदल सकता है, परिवर्तन ला सकता है। एक है--भीतरी प्रकाश, दूसरा है-- समता की साधना और तीसरा है--सहिष्णुता का प्रयोग।

मनुष्य बहुत अच्छे ढग से अपने आपको बदल सकता है। बदलने के लिए सबसे पहले उसे प्रकाश चाहिए। वह प्रकाश है--अन्तर्दृष्टि, भीतरी प्रकाश। भीतरी प्रकाश की एक भी किरण फूट पड़ती है तो बदलने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। जब तक अधेरा है, अनास्था है, अज्ञान है तब तक बदलने की बात नहीं हो सकती। सबसे पहली बात है, हमारी आस्था बने कि मैं अपने आपको बदल सकता हूँ।

यह सदेह समाप्त हो जाए कि होगा या नहीं होगा, ऐसा कर पाऊगा या नहीं कर पाऊगा ? जब तक यह सदेह रहेगा, तब तक कुछ नहीं होगा। जब तक सदेह और अज्ञान रहता है तब तक भीतरी प्रकाश काम नहीं देता, परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू नहीं होती। जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, उसे सबसे पहले एक छलाग लगानी पड़ती है। जो छलाग लगाना नहीं जानता वह विकास के क्रम को तेजी से आगे नहीं बढा पाता। चींटी की चाल चलने वाला विकास के शिखर पर कैसे पहुच सकता है ? इसके लिए तो बहुत छलागें लगानी पडती हैं, खतरे भी मोल लेने पडते हैं। खतरों से, कठिनाइयो से घबराने वाला कोई भी व्यक्ति परिवर्तन नहीं कर सकता, कोई बडा काम नहीं कर सकता। वह जिस स्थिति में है उस स्थिति में ही सतोष मानता रहता है। सबसे पहले खतरों को मोल लेने की भावना जागती है, वह सकल्प जागता है और आस्था जागती है, तो परिवर्तन शुरू होता है। पहली शर्त है--भीतरी प्रकाश।

हम सचमुच यदि बदलना चाहते हैं तो सबसे पहले इस बात पर ध्यान दें कि हमारी प्राणशक्ति का अपव्यय न हो। उतना ही काम लें, जितना जरूरी है। व्यर्थ काम न लें। और, जिस दिन यह भावना जागेगी, व्यर्थ के सारे काम बद हो जाएगे। गुस्सा कैसे करेंगे ? गुस्सा करने का मतलब है प्राण-शक्ति को व्यर्थ मे बहा देना। उसका नाला खोल देना, द्वार खोल देना। जितने आवेग के कार्य हैं, जितनी आवेश की प्रवृत्तिया हैं, जितनी तीव्र वासनाए हैं वे सारी की सारी प्राण-शक्ति का अपव्यय करने वाली हैं। हमें बहुत सावधान रहना पडेगा, जागरूकता से रहना होगा कि प्राणशक्ति का अपव्यय न हो। प्राणशक्ति को बचाने की पूरी प्रक्रिया धर्म की प्रक्रिया है। उससे अपने आप चेतना का जागरण होता है। प्राणशक्ति, जो व्यर्थ में खर्च हो रही थी, वह शक्ति अब सुरक्षित बन जाती है और दूसरी दिशा में उसका उपयोग होने लग जाता है। परिवर्तन का पहला सूत्र है--भीतरी प्रकाश और भीतरी प्रकाश का सम्यक् उपयोग।

45

सहने की शक्ति

मनुष्य अकेला नहीं जीता। वह समुदाय मे, समाज मे जीता ह। जहा एक से दो होते हं वहां अनुकूलता आर प्रतिकूलता की स्थिति का निर्माण होता हे। मनुष्य में सवेग होता है, भाव होता ह, इसलिए उसमे अनुकूल आर प्रतिकूल सवेदना होती ह, राग भी होता ह, द्वेष भी होता है। ये भाव मानसिक तनाव पदा करते ह, सताप पदा करते ह। उन्हे कमे सहा जाए ? मनुष्य जाति के सामने यह वहुत वडा पश्न है। जो सहन नहीं क र पाता वह मानसिक दृष्टि से विक्षिप्त-सा वन जाता ह, उसके अवसाद और सताप पदा हा जाता हे। जो सहन कर लेता ह वह आनद के साथ जीवन जी सकता हे। धर्म के द्वारा सहन करने की शक्ति पाप्त होती है। हम अनुकूल को भी सह सके, पतिकूल को भी सह सके, इस स्थिति का निर्माण होता ह।

कठिन काम ह अनुकूल को सहन करना। अनुकूलता आई, उन्माद आ गया। ये दोना जुडे हुए हं। अहकार आने का अवसर है-अनुकूलता। जव-जव मारी स्थितिया अनुकूल होती हैं, अहकार, मद और उन्माद व्यक्ति को घेर लेता ह। फिर उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता। कठिन आर वहुत कठिन ह अनुकूल मे सम रहना। अनुकूल वातावरण को झेल लेना, उन्माद न होना, अहकार न होना, उमसे वच पाना वहुत वडी साधना हे और यह धर्म के द्वारा ही सभव ह। सामाजिक वातावरण मे यह मान्य हो गया कि अनुकूलता मिले आर व्यक्ति उम स्थिति मं फूला न समाए, यह स्वाभाविक हे। इसे अवाछनीय नहीं माना जाता।

प्रतिकूल को महन करना भी वहुत कठिन काम हे। जव प्रतिकूल परिस्थिति आती ह, कोई वज्रपात होता ह, आकाश टूट पडता ह, मनुष्य विचलित हो जाता हे। अनुकूल आर प्रतिकूल दोनो परिस्थितियो से मानसिक विचलन पेदा होती हं।

तीसरी स्थिति ह-प्रिय का वियोग और चाथी स्थिति हे-अप्रिय का सयोग। जिसे चाहता ह उमका वियोग हो जाता ह। अच्छा मकान टूट गया। अच्छी वस्तु टूट गई। अच्छा व्यक्ति छूट गया। व्यक्ति में हमेशा एक अज्ञात भावना अथवा आशका होती है कि जो प्रिय का योग हुआ ह, वह चला न जाए। जाने-अनजाने, जागते-सोते यह भावना अथवा आशका वनी रहती हे। इसीलिए वहुत सावधानी बरती जाती हे। अलमारियो का विकास क्यो हुआ ? तालो का विकास क्यो हुआ ? भू-गृहो का विकास क्यो हुआ ? इसलिए कि कहीं कुछ चला न जाए। जो वाछनीय वस्तु हे-आभूपण है, धन है,

मूल्यवान वस्तुए है, वे तिजोरियों में, अलमारियो मे बद रहे। वहा मजबूत ताले लगे रहें, पहरा रहे कि कहीं कोई ले न जाए। प्रिय वस्तु को सुरक्षित रखना चाहता है और उसके लिए इतनी व्यवस्था मनुष्य ने की। अनेक रक्षा के उपायो का विकास हुआ।

अप्रिय वस्तु आ न जाए, यह भावना बनी रहती है, कही उसका योग न मिल जाए। किसी भी नोकर-चाकर को, कर्मचारी को पहले देखते है, परखते ह। मनुष्य घड़ा लेने जाता है तो परख कर लाता हे। बाजार में कोई भी वस्तु खरीदता है तो परखता है, कहीं अप्रिय वस्तु आ न जाए।

ये चार मनोवृत्तिया चार परिस्थितियों के साथ जुडी हें- अनुकूलता, प्रतिकूलता, प्रिय का वियोग, अप्रिय का सयोग—ये चारो मानसिक तनाव ओर सताप के बहुत बडे कारण बनते हे। बहुत बार इनके द्वारा मानसिक सतुलन बिगड जाता है। इन स्थितियो को सहने की शक्ति विकसित हो, यह कैसे सम्भव है ? सामाजिक वातावरण में यह सम्भव नही लगता, क्योकि वहा वातावरण है ममत्व का। जहा ममत्व की प्रबलता होती है, वहा इन स्थितियो को सहना सम्भव नहीं होता।

धर्म के द्वारा एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति या चेतना का जागरण होता है। वह शक्ति या चेतना है—भेद विज्ञान की चेतना। जहा शरीर की अवस्थाओ में और ज्ञान की अवस्थाओ में अनुबध होता है वहा एक प्रकार के मोह की चेतना का निर्माण होता है। शरीर की इस अवस्था का बोध होना कि मैं शरीर हूँ, शरीर मै हूँ। जहा यह मोह चेतना है, वहा सहन करने की शक्ति का विकास कभी नही होता। यह शरीर के प्रति मोह है।

विचारो के प्रति, ज्ञान के प्रति, बुद्धि के प्रति यह ममत्व बना लिया कि यह विचार मेरा है। मैंने जो अपना विचार बना लिया, उस विचार के विरोध मे दूसरा कुछ भी होता है तो मुझे कष्ट होता है, इसका कारण ममत्व-चेतना है—यह मेरा विचार है। 'मैं' विचार से जुड गया। आज जितनी साम्प्रदायिक परिस्थितिया जटिल बनी है, साम्प्रदायिक उन्माद बढा है, साम्प्रदायिक सघर्ष बढे हैं उन सबका हेतु क्या है ? 'मैं', 'मेरा'— यह ममत्व का अनुबध है। यह मेरा सम्प्रदाय, यह मेरा विचार, यह मेरा सिद्धान्त। बस यह मै हूँ, मेरा है—एक बधन हो गया। बधन हुआ और समस्या पैदा हो गई। यह बधन, यह चेतना का अनुबध, पदार्थ को 'मैं' मान लेना, पदार्थ के साथ अभिन्नता का अनुभव करना—यही समस्या का कारण है।

अभिन्नता स्थापित करो, यह समाज-विकास का सिद्धान्त है। अभिन्नता यानी अपना बनाओ, धन को अपना बनाओ, विचारो को अपना बनाओ, सिद्धान्तो को अपना बनाओ। यह अपनत्व जहा है वहा ममत्व की बात आएगी। यदि सम्प्रदाय के साथ यह अभिन्नता की बात नही होती, सम्प्रदाय मात्र साधन होता तो साम्प्रदायिक समस्याए उलझती नही, साम्प्रदायिक तनाव और सघर्ष कभी नही बढता। एक जुलूस जा रहा है

आर दूसरे सम्पदाय वाला उस पर पथराव करता ह। इमका कारण कोई शत्रुता नहीं है। वस, मॅने जिस विचार को मान्य किया ह, मने जिस सिद्धान्त को स्वीकार किया हे, उससे भिन्न विचार आर सिद्धान्त आए तो उस पर पहार करूँ, उसे निर्दयता के साथ कुचलने का पयास करूँ। यह सारा क्यो होता ह ? इसलिए होता हे कि विचार के साथ हम इतने जुड गए कि विचार को अभिन्न मान लिया। यह अभेदानुभूति ही सघर्ष का वीज हे।

विचार एक पवाह हे। वह आज आता ह आर कल वदल जाता हे। वह कभी स्थाइ नहीं होता। जो स्थाई होता हे वह विचार नहीं होता। विचार का अर्थ ह गतिशील होना। जो गतिशील ह, जो चलता रहता ह, आता ह, चला जाता ह, फिर आता हे फिर चला जाता ह, वह विचार होता ह। विचार को पकड कर वठ जाना या अभिन्नता स्थापित कर लेना, एक समस्या पदा करना ह। जहा शरीर आर विचारो के साथ वधन होता है, वहा हमारी महन करने की शक्ति कम हो जाती ह। हम सर्दी को इसलिए कम सहन कर पाते हं कि शरीर को अभिन्न मान लिया। अगर शरीर को भिन्न मानते तो सहन करने की शक्ति वढ जाती। साधको ने, मुनिया आर तपस्वियो ने वहुत सहन किया ह। किस आधार पर महन किया ? भूख को महा, प्याम को सहा, कठिनाइयो को झेला। कसे सहन किया ? उन्हाने मान लिया कि मे चतन्य हूँ, शरीर नहीं हूँ। वस इतना-सा चिन्तन मे परिवर्तन आया आर महन करने की शक्ति वढ गई। जहा यह मान लिया कि मं शरीर नहीं हूँ, वहा फिर कोई कष्ट नहीं होता। जन मुनि के लिए परीषहो का विधान है। वह परीषहा को झेले, कष्टा को सहन करे। किसलिए ? इसलिए कि कहीं तुम्हारी चेतना शरीर आर आत्मा को अभिन्न न मान वठे। हमेशा यह ज्योति जलाते रहे, यह दीया जलाते रह कि शरीर अलग ह, म अलग हूँ, मेरा अस्तित्व अलग है। यह भेदविज्ञान का दीपक मदा जलता रहे, हमारी महने की शक्ति वढती चली जाएगी।

'मं शरीर नहीं हूँ'—यह चेतना जागती ह तो मोह कम हो जाता ह। जेसे ही मोह कम होता है, सहन करने की शक्ति अपने आप वढ जाती हे।

यही वात विचार के विपय में ह, सिद्धान्त के विपय मे ह। सिद्धान्त को हम यदि सत्य के साथ जोडते हं तो कोई द्वन्द्व नहीं होता, कोई झझट नहीं होता। सिद्धान्त को यदि हम विचार के साथ जोडते हं तो समस्या पदा होती है। जहा विचारो में वेविध्य होता है, नानात्व होता हे, भिन्नता होती हे, वहा टकराव सहज ही हो जाता है।

दूसरो के विचार को सहन करने की क्षमता तभी विकसित होती है जव विचार विचार रहे। वह न मेरा हे, न तेरा ह। विचार कोरा विचार हे। विचार आकाश मडल मे, वायुमडल मे व्याप्त रहता हे। कभी तुम्हारे पास आ गया, कभी मेरे पास आ गया। विचार केवल विचार होता ह। जहा विचार के साथ अभिन्नता स्थापित नहीं होती, वहा सघर्ष की स्थितिया टल जाती ह।

46

इन्द्रिय-विजय की यात्रा

हम इन्द्रिय-विजय की यात्रा कहा से शुरू करे ? इन्द्रियो से या मन की चचलता से ? यह बहुत बडा चक्र है। भगवान महावीर ने कहा—पहले अपने आपको जीतो, अपने मन को जीतो। चार कषाय स्वत जीत लिए जाएगे। क्रोध, मान, माया और लोभ को व्यक्त करने मे चंचलता ही निमित्त बनती हे। मन यदि चचल नहीं है तो क्रोध नहीं आएगा। अगर क्रोध व्यक्त हो भी गया तो प्रबल नहीं होगा। क्रोध की तरग मन की चचलता से उठती है। मन की चचलता नहीं रहेगी तो क्रोध की तरग भी नहीं उठेगी। आयुर्वेद का सिद्धात है

"पित्त पगु· कफः पगु;, पगवः सर्वधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते, तत्र गच्छन्ति ते तथा॥"

—पित्त पगु है। कफ भी पगु है। ये अपने आप नहीं चलते। वायु इन्हे जहा ले जाती है वहा ये चले जाते हैं। ठीक यही बात प्रस्तुत सदर्भ मे घटित होती है। इन्द्रिया भी पगु है, कषाय भी पगु है। मन की चचलता इन्हे जहा ले जाती हैं ये चले जाते हैं। जो ले जा रहा है, धक्का दे रहा है, उसे जीतना है। सबसे पहले मन की चचलता पर ध्यान देना है। मन की चचलता नही है तो सामने कोई दृश्य आया, देख लिया पर प्रतिक्रिया नहीं हुई। प्रतिक्रिया के बिना इन्द्रिया अपना काम पूरा नहीं करतीं। मन की चचलता के बिना प्रतिक्रिया नही हो सकती और प्रतिक्रिया के बिना कोई क्रिया नही होती। मन की चचलता पर नियत्रण किए बिना अध्यात्म के क्षेत्र मे विकास सभव नहीं हो सकता।

चचलता को हम चार भागो मे विभाजित कर सकते है 1 मन की चचलता, 2 वाणी की चचलता, 3 शरीर की चचलता, 4 श्वासोच्छ्वास की चचलता।

मन, वचन, शरीर और श्वासोच्छ्वास को अनुशासित किए बिना न तो ध्यान की बात सोच सकते है और न इन्द्रिय-विजय की बात। शरीर की चचलता कम करने के लिए कायोत्सर्ग करते है। वाणी की चचलता कम करने के लिए मौन का प्रयोग करते है। मन की चचलता कम करने के लिए ध्यान का प्रयोग करते है, चैतन्य-केन्द्रो पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, दीर्घ श्वास-प्रेक्षा का प्रयोग करते है।

सामान्यत एक मिनिट मे पन्द्रह-सोलह श्वास आते है। एकाग्रतापूर्वक प्रयोग करने से वह सख्या चार या दो भी हो सकती है। शरीर की चचलता को कम करना

साधना का पहला विन्दु ह। इसके लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास जरूरी है। उसके बाद वाणी की चचलता को कम करना हे, स्वर-यत्र को निष्क्रिय बनाना है। जव तक स्वर-यत्र सक्रिय ह विचारो का प्रवाह नही रुकता, मन की चचलता भी समाप्त नहीं होती। मनोवज्ञानिकों ने अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष पस्तुत किया हे कि स्वप्न मे भी व्यक्ति का स्वर-यत्र सक्रिय रहता हे। जव तक स्वर-यत्र सक्रिय रहता हे भापा पैदा होती रहती ह, विचारो का सिलसिला जारी रहता ह। कण्ठ के कायोत्सर्ग के द्वारा वाणी की चचलता को कम किया जा सकता ह।

जिसने मन की चचलता को कम करने का प्रयोग नहीं किया वह सफल जीवन नहीं जी सकता। मानसिक चचलता कम होने पर जीवन के हर मोड मे व्यक्ति सफलता प्राप्त करेगा, चाहे वह व्यावसायिक क्षेत्र हो, आद्योगिक क्षेत्र हो, साहित्यिक क्षेत्र हो, लेखन का क्षेत्र हो, पत्रकारिता का क्षेत्र हो, राजनीति का क्षेत्र हो।

हमे चचलता को अनुशासित करने का प्रयत्न करना ह, उसे समाप्त नहीं करना। चचलता को समाप्त करने का अर्थ ह जीवन को समाप्त करना। जव तक जीवन है चचलता वनी रहेगी। उसकी सीमा का विवेक करना हे। कितनी चचलता ओर कितनी स्थिरता, इन दोनो का अभ्यास करना ह। चचलता ओर अचचलता दोनो का सतुलन करना हे। चोवीस घटो मे एक घटा भी वचन, श्वास आर मन को अ-चचल रखना सीख ले तो जीवन की सफलता का सूत्र मिल जाएगा। चावीस घटे मे एक घटे अ-चचल रहना सीखे। शक्ति आर प्राण का सचार होगा। हमे वह ऊर्जा मिलेगी जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह वात वहुत छोटी ह, पर आज का मनुष्य इसे समझ नहीं रहा हे।

आज सवेग वहुत प्रवल हें। हिसा क्यो वढती ह ? भ्रष्टाचार क्यो बढता हे ? अनतिकता क्यो वढती ह ? आपसी मन-मुटाव क्यो वढता हे ? पारिवारिक कलह क्यो होता हे ? सस्थाओ मे झगडे क्यो होते ह ?

एक ही कारण ह, ओर वह ह—मन की चचलता। हमने चचलता को कम करना नहीं सीखा। हम स्वय सवेगो को निमत्रण दे रहे हें, प्रोत्साहन दे रहे हें। पुराने जमाने मे शायद इतना सवेग प्रवल नहीं था। आज किसी व्यक्ति की छोटी-सी बात भी यदि नही मानी जाती हे तो वह तत्काल मरने और मारने को तैयार हो जाता हे। आज का आदमी इद्रिय-लोलुप हो गया हे। इसका हेतु भी चचलता है।

लदन की घटना हे। उस समय चाय का प्रचलन था। काफी हाउस नही खुले थे। काफी के नाम पर दुकान खोली। लोगो से कहा—मै आपको कडवी चाय पिला रहा हूँ। चाय के स्थान पर कॉफी हाउस प्रसिद्ध हो गया। लोग कॉफी का नाम भी नही जानते थे। धीरे-धीरे समाचार पत्रो मे कॉफी हाउस की खूब चर्चा होने लगी। मैं जब दीक्षित हुआ,

तब चाय का नाम भी नही सुना था। चाय क्या होती है, जानता भी नहीं था। आज कोई बीमार होता है, जुकाम लगती है, बुखार होता है तो चाय सबसे पहले पीता है। आज चाय बहुत अधिक प्रचलित हो रही है। किसने चलाई ? चलने या चलाने वाली एक ही बात है और वह है मन की चचलता। यदि चचलता न हो तो विज्ञापनदाता हजारो विज्ञापन देकर थक जाते, कुछ भी नही होता। सबसे बडा विज्ञापन है हमारा मन और उसकी चचलता।

प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति इस सचाई से परिचित बने। वह दो दिन मे दस मिनिट भी प्रतिमा की भाति स्थिर होकर बैठने लग जाए तो बहुत फायदा होगा। दीर्घ-श्वास का प्रयोग करना सीख लिया तो श्वास की चचलता कम हो जाएगी। एक मिनिट मे आठ-दस श्वास लेना सीख लिया तो प्रयास की सार्थकता हो जाएगी। चौबीस घटों मे एक अथवा आधा घंटा मौन रहना सीख लिया तो उपदेश की सार्थकता सिद्ध हो जाएगी। अपने भटकते हुए मन को आधा घटा एकाग्र करना सीख लिया तो बहुत फायदा होगा। चचलता निरकुश न रहे, उस पर हमारा अनुशासन रहे। हम स्वतत्र रहे, इद्रिया हमारे अधीन रहें, मन हमारे अधीन रहे। यह शात, सुखी और पवित्र जीवन जीने का मत्र है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला इस मत्र को आत्मसात् कर लेता है।

47

नैतिकता का आधार

सामाजिक जीवन जीने वाला व्यक्ति अकेला नहीं जीता, दूसरो के साथ जीता है। वह दूसरो के साथ प्रतिदिन व्यवहार करता है। सबसे अधिक प्रसग आता है व्यवहार का। आदमी के व्यवहार का मूल्याकन करते समय यह प्रश्न आता है कि किस व्यवहार को अच्छा मानें और किसे बुरा मानें ? किस व्यवहार को शुभ माने और किसको अशुभ मानें ? किस व्यवहार को सत् और पुण्य मानें और किसको असत् और पाप माने ? भारतीय चितन में व्यवहार की चर्चा पुण्य-पाप, सत्-असत् के आधार पर की गई है। पश्चिम आचार-शास्त्र में व्यवहार की चर्चा शुभ और अशुभ के आधार पर हुई है। मूल प्रश्न एक ही है कि अच्छे और बुरे व्यवहार की कसौटी क्या है ? अनेक मनोवैज्ञानिक और नीतिशास्त्रीय कसौटिया हैं। उनमे एक कसौटी है—सुखवाद। आचारशास्त्र में इसको दो भागों में विभक्त किया गया—मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नीतिशास्त्रीय सुखवाद। यह महत्त्वपूर्ण कसौटी मानी गई है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का मूल प्रतिपाद्य यह है कि जिस आचरण से व्यक्ति को सुख मिले, जो सुखद आचरण है, वह नैतिक आचरण है। जिस आचरण से दु·ख की अनुभूति हो, दु ख मिले, जो दु खद हो, वह अनैतिक है।

स्वभाव से ही सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दु ख नहीं चाहते। इस स्वाभाविकता को मनोविज्ञान ने सुख का आधार माना।

आचाराग सूत्र का वाक्याश है—*'सुहसाया दुहपडिकूला'*—सभी सुख चाहते हैं, दु ख किसी को प्रिय नहीं है। सुख प्रिय है, दु ख अप्रिय है। प्रत्येक प्राणी अनुकूल वेदना चाहता है, प्रतिकूल वेदना कोई नहीं चाहता। यह एक स्वभाव है। इस स्वभाव को आचार की, नैतिकता की और व्यवहार की कसौटी बना लिया गया है। इसके आधार पर जो सुखद है, अनुकूल है वह नैतिकता है और जो दु खद है, प्रतिकूल है वह अनैतिकता है।

प्रारम्भिक निष्कर्ष में यह बात बहुत अच्छी लगती है कि वही व्यक्ति नैतिक है जो सुख पहुचाता है। दु ख देने वाला कभी नैतिक नहीं हो सकता। किन्तु विमर्श करने पर यह कसौटी ठीक नहीं बैठती। यदि हम यह मान लेते हैं कि जो सुखद है, जो सुख देने वाला है, जिससे सुख होता है, वह नैतिक है तो अनेक उलझनें पैदा हो जाती हैं। उससे समाज की व्यवस्था गडबडा जाती है। शराबी को शराब पीने में जैसी अनुभूति होती है वैसी और किसी बात में नहीं होती। क्या हम मान लें कि शराब सुखद है, सुख देती है,

इसलिए शराब पीने का व्यवहार नैतिक है ? यदि इसे नैतिक व्यवहार मान लेते हैं तो फिर अनैतिक कर्म कोई बचेगा ही नहीं।

दु ख से आदमी घबराता है। दु ख कोई बुरी बात नहीं है। वह नई चेतना को जगाने के लिए आता है। नया सकट आता है, आदमी दु खी बन जाता है और उस दु ख के कारण उसमें नई जागृति आती है। अनेक भक्त साधकों के प्रार्थना के स्वर हैं–भगवान। यदि आप मुझे वर देना चाहें तो मेरी मनोकामना पूरी करें कि मुझे दु ख आता रहे। कुती ने भगवान से प्रार्थना की–मुझे दु ख मिले। पूछा गया, क्यो ? उसने कहा–दु ख आता हे तो आपकी स्मृति होती है। सुख में आपकी विस्मृति हो जाती है। यह दोहा भी इसी का प्रतीक है–

"दु:ख मे सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय।
जो सुख मे सुमिरन करे तो दु.ख काहे को होय।।"

यह अनुभूति का स्वर है। दु ख में सारे भगवान याद आ जाते हैं। जब सुख आता है तब भक्त जन भगवानो को सुला देता है, भूल जाता है। इस दृष्टि से दु ख बुरा नहीं होता। पहाड पर चढना कठिन होता है, पर ऊपर जाने के पश्चात सुख की जो अनुभूति होती है, वह नीचे खडे व्यक्ति को नहीं होती। चढते समय कष्ट होता है, दु ख होता है पर शिखर का स्पर्श करते ही वह भुला दिया जाता है। यह एक यथार्थ है कि जिस व्यक्ति ने सुख से जो पाया, वह थोडा-सा दु ख आने पर चला जाएगा। एक आचार्य ने लिखा है–*सुहेण भावित नाण, दुहे जादे विणस्सति।*

आचार्य कुदकुद और उत्तरवर्ती आचार्यो ने इस गाथा का अनुसरण किया है। वे कहते हैं–सुख से भावित ज्ञान दु ख आने पर समाप्त हो जाता है। दु·ख से प्राप्त ज्ञान, दु ख से भावित ज्ञान दु ख आने पर कष्ट नहीं देता। हमारी यह जनभाषा है कि सीधी पूजी किसी को हस्तगत होती है तो वह खतरा पैदा करती है। वह बहुत सताती है। आज जो अनैतिकता की समस्या है उसका एक कारण यह भी है।

बाप का धन बेटे को मिल जाता है। यह वास्तव मे एक समस्या है। साम्यवादी शासन प्रणाली में स्वामित्व की सीमा की गई और उत्तराधिकार की बात समाप्त की गई कि बाप का धन बेटे को नहीं मिलेगा। यह बात एक सीमा तक उचित है और अनैतिकता के लिए अवरोधक है। (दो भ्रातिया भारतीय जीवन में चल रही हैं। एक है सात पीढी की चिता करना और दूसरी है बपौती पर स्वय का अधिकार होना। जो व्यक्ति सात पीढी को सुखी बनाने की कल्पना से चलता है वह अनैतिक व्यवहार क्यों नहीं करेगा ?)

(सीधा धन मिलना भी समस्या पैदा करता है। व्यक्ति को आलसी और विलासी बनाता है। जिस व्यक्ति ने स्वय धन नहीं कमाया, पसीना नहीं बहाया, पुरुषार्थ नहीं

किया, बाप-दादो की कमाई जिसे सीधी मिल गई, वह यदि बुराइयो से बचे तो विलक्षण बात है और न बचे तो स्वाभाविक बात है, क्योकि वह धन उसको प्रमाद से मिला है, इसलिए उसे प्रमत्त बनाएगा ही। उसे यह अनुभव ही नहीं है कि पैसा कैसे कमाया जाता है। इसीलिए वह पैसे को पानी की तरह बहाने में नहीं हिचकिचाता। यह प्रवृत्ति उसे बुराइयो में ढकेलती है। वह उस समय सोच नहीं पाता।

इन समस्याओ के सदर्भ में जब हम नैतिकता की बात करते हैं तो सुखवादी और सुविधावादी चिंतन को भी बदलना जरूरी होता है। सीधा मिला हुआ या सुख से मिला हुआ धन पग-पग पर खतरा उपस्थित करता है। जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के द्वारा कष्ट सहकर कमाता है, उसका धन दु ख पड़ने पर भी नष्ट नहीं होता ओर सुख से प्राप्त धन शीघ्र खत्म हो जाता है। इसलिए यह अनुभव वाणी है कि सुख से भावित ज्ञान या सुख से भावित प्राप्ति दु ख आने पर चली जाएगी। दु ख से भावित ज्ञान या प्राप्ति दु ख-काल में जाती नहीं, साथ देती है।

इस समीक्षा के आधार पर यह कसोटी ठीक नहीं बैठती कि जो सुखद है वह नैतिक हे ओर जो दु खद है वह अनैतिक है। हमारे ऐसे अनेक व्यवहार हैं, जो दु ख देने वाले होकर भी नैतिक हैं ओर बहुत सारे ऐसे व्यवहार भी हैं जो सुखद होने पर भी नैतिक नहीं हैं। इसलिए मनोवैज्ञानिक सुखवाद की कसोटी उचित नहीं लगती। यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है यह स्वाभाविकता है किन्तु यह कसोटी नहीं वन सकती नैतिकता की।

एक बार एक विद्वान ने तेरापथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु द्वारा मान्य अहिसा की समीक्षा करते हुए लिखा—'भगवान महावीर ने कहा है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दु ख कोई नहीं चाहता, इसलिए सबको सुख दो और आचार्य भिक्षु कहते हैं कि सुख देना धर्म नहीं है।' मैंने लिखा, भगवान के कथन का तात्पर्य ठीक नहीं समझा गया। जीव सुख चाहते हैं, दु ख नहीं चाहते, यह स्वाभाविकता का निरूपण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सुख दो, दु ख मत दो।

भगवान ने केवल परिस्थिति का निरूपण किया है, मानसिकता का निरूपण किया है। किंतु, प्रत्येक प्राणी की सुख पाने और दु ख न पाने की इच्छा निम्नस्तरीय इच्छा है। उच्चस्तरीय विकास होने पर यह इच्छा नहीं होती, समाप्त हो जाती है। इच्छा का इतना परिष्कार हो जाता है कि मोक्ष की इच्छा भी समाप्त हो जाती है। साधना की उच्च भूमिका पर पहुचा हुआ साधक इच्छा-मुक्त हो जाता है। उसमें मोक्ष की इच्छा भी शेष नहीं रहती।

वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति तभी होती है जब यह इच्छा भी समाप्त हो जाती है। मोक्ष की इच्छा भी एक बाधा है। इच्छा करना बाधा है। जो व्यक्ति स्वय में लीन होता है,

अपने आप मे लीन होता है, उसमें इच्छा की बात समाप्त हो जाती है। उस व्यक्ति में सुख की भावना भी समाप्त हो जाती है। सामान्य आदमी कहता है, मैं धर्म करूगा तो मुझे स्वर्ग मिलेगा। एक भाई ने कहा—महाराज! मैं साठ वर्ष का हो रहा हूँ। मुझे ऐसा कोई गुर बता दे जिससे नरक न मिले, स्वर्ग मिले। यह आदमी की शाश्वत इच्छा है कि वह नरक नहीं चाहता, स्वर्ग चाहता है। नरक का अर्थ है दु ख। स्वर्ग का अर्थ है सुख। यह इच्छा निरतर बनी रहती है। किन्तु, जिस व्यक्ति ने नैतिकता और अध्यात्म को समझा है, चेतना के परिष्कार को समझा है, वह स्वर्ग के लिए लालायित नहीं रहता, उसमें एक नई चेतना जाग जाती है।

प्रश्न होता है कि नैतिकता की कसौटी क्या होगी? हम किस व्यवहार को अच्छा मानें? सुख या दु ख के आधार पर किसी व्यवहार को अच्छा या बुरा न मानें तो फिर और उपाय ही क्या है? सत्-असत्, भला-बुरा, शुभ-अशुभ की कसौटी क्या होगी? इस विषय में दो चितन प्रस्तुत होते हैं। पहला चितन तो यह है कि जिस देश और काल में जिस कर्म या व्यवहार को समाज या बडे जन-समूह द्वारा वाछनीय मान लिया गया, वह नैतिक है और जो व्यवहार अवाछनीय माना गया, वह अनैतिक है। यह लौकिक स्वीकृति है। यह नितात व्यावहारिक कसौटी है, सार्वभौम कसौटी नहीं है। इसे यथार्थ नहीं कहा जा सकता। हम नैतिकता की वास्तविक कसौटी की चर्चा करें जो सार्वभौम है, देशातीत और कालातीत है। कसौटी है—'*जे निज्जिण्णे से सुहे।*' यह वास्तविक कसौटी है। जिस आचरण के द्वारा बन्धे हुए सस्कार क्षीण होते हैं, निजीर्ण होते हैं, वह आचरण है नैतिक। जिस आचरण से सस्कार बधते हैं, सघन होते हैं, वह है अनैतिक। जो निर्जरा है वह सुख है। जो बध है वह दु ख है।

सुख और दु ख की यह वास्तविकता ही नैतिकता की कसौटी बन सकती है, किन्तु सुख और दु ख की स्वीकृति में बहुत अन्तर आ गया, अभ्युपगम में अन्तर आ गया। सुख और दु ख मान लिया गया वैयक्तिक इच्छा के अनुसार या सामूहिक इच्छा के आधार पर। इच्छा आधारित सुख और दु ख नैतिकता या अनैतिकता की वास्तविक कसौटी नहीं बन सकते। जो सुख कर्म-विलय से और दु:ख कर्म-बध से होता है वही नैतिकता-अनैतिकता का आधार बनता है। निर्जरण सुख है, बधन दु ख है।

वह दिन मे केवल एक अस्थिखड जेसा हो जाता हे, तेजविहीन हो जाता ह। सूर्य ओर चाद को हम कितना महत्त्व देते हैं ? अति परिचय अच्छा नहीं होता, पर कठिनाई यह हे कि अपने श्वास का परिचय भी नहीं हो रहा हे। चाद का अस्तित्व रहता हे, आदमी का अस्तित्त्व भी समाप्त हो जाता हे, शरीर का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता हे।

हमे श्वास कब लेना, कितना लेना, कंसे लेना, आदि-आदि प्रश्नो पर विचार करना है। (श्वास को पूरा लेना बहुत कम लोग जानते ह। श्वास को लेना नहीं जानते इसलिए आवेश बढता हे, मानसिक विपाद बढता हे। मन, शरीर ओर स्वास्थ्य की अनेक समस्याए श्वास को सम्यक् लेना न जानने के कारण उत्पन्न होती ह।) जो श्वास को सम्यक् लेना जानता हे, वह आत्मानुशासन की भूमिका को प्राप्त कर लेता हे।

आत्मानुशासन का तीसरा सूत्र हे—इद्रिय का सयम। बहुत जटिल हे इद्रिय का सयम। प्रत्येक प्राणी मे एक इच्छा होती है। इच्छा प्राणी का लक्षण हे। (प्राणी ओर अप्राणी, जीव और अजीव, चेतन ओर अचेतन के बीच हम कोई भेद रेखा खींचे तो शायद सबसे सरल भेद रेखा यह होगी—जिसमें इच्छा हे वह प्राणी है, जिसमे इच्छा नहीं है वह प्राणी नहीं है। प्रत्येक प्राणी मे इच्छा होती ह। इच्छा को रोका नहीं जा सकता। हम इच्छा को रोके नहीं, इच्छा का विवेक करना सीखे। इच्छा का विवेक करने का मतलब हे, इच्छा को साध लेना।

इद्रिय-विजय, इद्रिय-निग्रह, इद्रिय-सयम आदि अनेक शब्द अध्यात्म के क्षेत्र मे प्रचलित हैं। इन सबके पीछे मूल तत्त्व है—इच्छा का विवेक। देखने की इच्छा हुई, आख खुल गई। अब विवेक करना है कि देखू या न देखू। जहा विवेक नहीं होता वहा समस्या पैदा हो जाती है। एक छोटा बच्चा टीवी देखने बैठता है। दो घटा, चार घटा देखता ही चला जाता है। उसमे इच्छा का विवेक नही है। उसका परिणाम क्या होता है ? आखे खराब हो जाती है।

इच्छा हे और इच्छा के साथ स्वतंत्रता जुडी हुई है। अगर हम इस प्रकार इच्छा का उपयोग करेगे तो न व्यक्ति स्वस्थ रहेगा, न समाज स्वस्थ रहेगा। इच्छा का सयम या विवेक करना जरूरी है—कहा इच्छा का उपयोग किया जाए और कहा इच्छा का निग्रह किया जाए, कहा इच्छा की काट-छाट की जाए ?

आजकल छात्र-छात्राओ को इच्छा के विवेक की बात नही सिखाई जाती इसलिए बहुत सारी समस्याए परिवार मे पैदा हो जाती है। इच्छा के सयम की बात नहीं सीखी जाती इसलिए प्रशासन और राजनीति के क्षेत्र मे बहुत गबन और घोटाले हो जाते हैं।

लडका आया, बोला—पिताजी! सूर्यास्त के समय का दृश्य बहुत मनोरम होता है। आप चलें, मैं भी आपके साथ चलूगा। पिता बहुत विवेकशील नहीं था, उसने कहा—अभी तो मुझे समय नहीं है, कल सुबह चलेगे। देखना है अस्ताचल का दृश्य और देखने सुबह चलेगे!

विवेक के बिना बहुत सारी गलत मान्यताए और धारणाए बन जाती है, आचरण भी गलत हो जाता है। स्वतत्रता के लिए जरूरी है आत्मानुशासन और आत्मानुशासन का महत्त्वपूर्ण अग है--इद्रिय का संयम।

आत्मानुशासन का चौथा सूत्र है—वाणी का विवेक, वाणी का सयम। बोलना बहुत जरूरी है। समाज के साथ सम्बन्ध का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम भाषा है। जो बोलना नही जानता, वह सामाजिक प्राणी नहीं हो सकता। समाज के विकास का मानदड और मूल्य है—भाषा। क्या इस स्थिति मे यह उलटी बात नही है कि वाणी का भी विवेक करो, मौन करना सीखो। कब बोलना, कितना बोलना, कैसे बोलना—ये सारे मौन के अग हैं। कैसे बोलना—यह भी एक प्रकार का मौन है। कब बोलना—यह भी एक प्रकार का मौन है। न बोलना भी आवश्यक होता है। बहुत सारी उलझने वाणी के अविवेक के कारण पैदा होती हैं। अनेक पारिवारिक झगडो मे बहुत गहरा कारण नही होता। जो आदमी बोलना नहीं जानता, वह बात-बात मे सघर्ष पैदा कर देता है। अहेतुक और अकारण सघर्ष हो जाता है केवल वाणी के असयम के कारण।

बहुत लोग कहते हैं कि हम तो साफ-साफ बात कहने वाले है। साफ-साफ कहने का अर्थ क्या है ? साफ-साफ कहने वाले साफ-साफ सुनने के लिए कभी तैयार नहीं हैं। सुनने की बात आती है तो उबल पडते है। यह केवल प्रवचना है। उनका अपनी वाणी पर सयम नहीं है, साफ-साफ कहने की बात कह कर प्रवचना और छलना पाल लेते है। वाणी सयम साधना का बहुत बड़ा सूत्र है। प्रत्येक आदमी के लिए, जो पारिवारिक जीवन जीता है, सामाजिक जीवन जीता है, वाणी का विवेक बहुत आवश्यक है।

आत्मानुशासन का पाचवा सूत्र है—मन का सयम। मन की चचलता को कम करने का अभ्यास। मन की चचलता ने शायद आदमी को सबसे ज्यादा उलझन मे डाला है। हम गहरे मे उतर कर देखे—जितनी उलझनो का अनुभव करते है, उतनी उलझने वास्तव मे नहीं है। जितनी समस्या हम मानते है, उतनी समस्या नही है।

बहुत सारी समस्याओ का एक पुज या ढेर मन की चचलता के कारण हमने बना रखा है। इच्छा और मन की चचलता का बहुत गहरा सम्बन्ध है। मन को चचल बनाती है इच्छा। इच्छा पैदा हुई, मन चक्राकार घूमने लग जाएगा। इच्छा पैदा हुई, मन चचल बना और एक धारणा बन गई कि तृप्ति कैसे मिलेगी ? एक वस्तु की इच्छा पैदा हुई। जब तक इच्छा पूरी नही होती तब तक तृप्ति नही मिलती। इच्छा पूरी हुई, तृप्ति मिल गई। क्या यह सही बात है ? इसकी सूक्ष्म दृष्टि से मीमासा करे। अध्यात्मवेत्ताओ ने कहा—यह बहुत बडी भ्रान्ति है कि इच्छा पैदा हुई, इच्छा को भोग लो, इच्छा तृप्त हो जाएगी। क्या ऐसा हुआ है अब तक ? नहीं हुआ है। इस सत्य को धर्म के क्षेत्र मे खोजा गया। महाभारत का एक सुदर पद है—*न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।* -काम,

काम के सेवन से शान्त नहीं होता, तृप्त नहीं होता। अग्नि मे ईंधन डालने से वह अधिक उद्दीप्त ओर प्रज्वलित हो जाती हे।

तृप्ति की वात मत करो। इतना ही सोचो की क्षणिक तृप्ति हुई ह, अतृप्ति निरन्तर उसकी पृष्ठभूमि मे चल रही हे। अभी भोजन किया आर तृप्ति हो गई। आदमी कहता हे—खूब छक कर खा लिया, तृप्त हो गया। यदि सचमुच तृप्त हो गया, तो फिर खाने की कोई आवश्यकता नहीं हे। किन्तु, चार-पाच घटे वाद फिर खाएगा। हमे विमर्श करना होगा कि भूख कव लगी ? खाने की अतृप्ति का विन्दु कानसा हे ? अतृप्ति का विन्दु कहा हे, क्या पाच घटे वाद खाने की फिर से इच्छा पेदा हुई ? विल्कुल नहीं। अगर पाच घटे तक इच्छा नहीं हुई, तो एकदम एक झटके मे केसे हो गई ? जिस क्षण मे खाना वन्द किया, उसी क्षण से फिर खाने की इच्छा शुरू हो गई। होते-होते एक विन्दु ऐसा आया कि पुन खाने की जरूरत हो गई। घडे मे एक विन्दु जल की गिरी, घड़ा गीला भी नहीं हुआ। दूसरी बूद गिरी, घडा नहीं भरा। एक-एक वूद गिरते-गिरते एक क्षण ऐसा आया कि घडा भर गया। अगर पहले क्षण मे घड़ा नहीं भरा, तो अन्तिम क्षण मे भी नहीं भरेगा।

हम जीवन और मृत्यु को अलग नहीं कर सकते। जहा जीवन हे वहा मृत्यु हे। मृत्यु के साथ जीवन जुडा हुआ हे। हम तृप्ति ओर अतृप्ति को अलग नहीं कर सकते। जहा तृप्ति हुई, वहा उसके नीचे अतृप्ति भी चल रही हे। एक वहुत वडी सच्चाई को खोजा गया- जिसको तृप्ति मान रहे हो, वह ऊपर से तृप्ति दिखाई देती हे किन्तु उसके नीचे अतृप्ति का क्षण छिपा हुआ है। हम तृप्ति और अतृप्ति के क्षण को विभक्त नहीं कर सकते। दोनो साथ-साथ चल रहे हैं। यह एक भ्राति है कि इस चीज का सेवन करो, तृप्ति हो जाएगी।

धर्म ने इस भ्राति को तोड़ा, जो छिपा हुआ सत्य था उसे प्रस्तुत किया—तृप्ति की बात तुम मत सोचो, तृप्ति नहीं होगी। जैसे-जैसे लोभ बढेगा, अतृप्ति और सघन वनती चली जाएगी।

49

एकाग्रता

जिस व्यक्ति का सयम परिपक्व हो जाता है, जिसमें नियत्रण की क्षमता आ जाती है, वह जीवन के असली लक्ष्य तक पहुच जाता है। ढीला-ढाला व्यक्ति कभी नहीं पहुच पाता। वही व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुच सकता है, जिसका सकल्प मजबूत होता है, जिसमें सयम और नियत्रण की शक्ति होती है।

जिस व्यक्ति में एकाग्रता नहीं है, वह कहीं भी सफल नहीं हो सकता। आज एक काम शुरू किया, चार महीने के बाद उसको छोडा और दूसरा काम शुरू कर दिया, फिर दो महीने बाद तीसरा काम शुरू कर दिया। इस प्रकार चचल चित्त वाला व्यक्ति कभी सफल नहीं हो सकता। एक बिन्दु पर टिकना सफलता का सबसे बडा सूत्र है। मन की एकाग्रता सध गई तो प्रत्याख्यान भी परिपक्व होगा और सयम की शक्ति भी बढ़ेगी। बहुत कठिन काम है मन को एकाग्र बनाना, चचलता को मिटाना। यह नहीं कहा जा सकता कि मन की चचलता एकदम समाप्त हो जाएगी, पर कम से कम ऐसा हमारा अभ्यास हो जाए कि अति चचलता तो कम हो जाए, बहुत ज्यादा चचलता न हो। हम इतना प्रयत्न अवश्य करें कि जो काम करें, उसमें हमारा मन लग जाए। कार्य में पूरी एकाग्रता नहीं है, फिर भी चचलता में अतर आ जाए, चचलता की मात्रा कम हो जाए तो हमारे चरण सफलता की दिशा में आगे बढ़ेंगे। नवकार मत्र की माला जपना है या अपने किसी इष्ट का जाप करना है। जप शुरू किया पर मन चचलता के कारण भटकता रहा तो न इधर का रहा, न उधर का रहा। न तो माला हुई और न उसका रस आया। जब रस नहीं आता है तब काम आगे नहीं बढता।

कुछ दिन पहले एक व्यक्ति ने कहा -'मैं इतने वर्षों से जप कर रहा हूँ, पर रस नहीं आ रहा है। इसलिए मन में आता है, माला छोड दूँ।'

मैने कहा -'छोडने की बात क्यों सोच रहे हो ? यह सोचो कि रस कैसे आए। रस आ सकता है अगर तुम्हारी एकाग्रता सध जाए। ऐसा प्रयत्न करो कि एकाग्रता सधे। इसका सीधा उपाय है श्वास। श्वास के साथ मन को जोडो। कुछ दिनों में ही रस आने लग जाएगा। जो फल दस वर्ष में नहीं पका, वह दस दिन में पक जाएगा। श्वास का सयम करना, श्वास को देखना सीख जाओ तो मन की गति भी सुधर जाएगी।'

एकाग्रता बढते ही सरसता आ जाती है और फिर मन होता है इस क्रम को और आगे बढाने का। रस नहीं आए तब तक थोपा हुआ-सा लगता है। रस आ जाए, फिर

कोई छुडाए तो भी छूटता नहीं हे। अनेक लोग ऐसे हैं, जब तक उनका ध्यान या जप का क्रम पूरा नहीं होता, तब तक चाहे बारह बज जाए, दो बज जाए, रोटी को भी छोड सकते हैं, पर जप और ध्यान को नहीं छोड सकते। कारण स्पष्ट हे—रोटी में जितना रस हे, उससे ज्यादा रस जप और ध्यान मे आ रहा है। रस पेदा करने से अपने आप सयम की स्थिति बनेगी। उसका साधन है—एकाग्रता।

ध्यान करने वाला व्यक्ति सबसे पहले यह सोचे कि मन की चचलता कितनी कम हो रही है। उसके पास थर्मामीटर रहे। वह लगाते ही पता चलेगा कि शरीर में उष्मा कितनी है, टेम्परेचर कितना है। आज ध्यान का प्रयोग किया, चचलता कितनी कम हुई ? दस मिनट ध्यान किया, विचार-विकल्प कितने कम रहे। विचार कैसे आया ? अच्छा आया या बुरा ? रोज अपना थर्मामीटर लगाकर परीक्षा करे। प्रत्येक व्यक्ति को यह थर्मामीटर अपने पास रखना चाहिए और उसे मापते रहना चाहिए। आज मन की स्थिति कैसी रही ? सूर्योदय से लेकर शयनकाल तक मन की स्थिति का पूरा आकलन करें। उठते ही सबसे पहले कौनसा विचार आया ? पहला विचार महत्त्वपूर्ण होता है। हम ध्यान नहीं देते, कभी जानकारी ही नहीं करते।

क्या आप को याद है कि उठते ही आज सबसे पहले कौन सा विचार आया ? हमारा ध्यान ही नहीं जाता। विचार आता है ओर चला जाता है। हम विचार के प्रति जागरूक बनें। शाम को पूरे दिन का लेखा-जोखा करें। आज दिन में क्या-क्या विचार आया ? क्या-क्या स्थितिया आईं ? चचलता कम रही या अधिक ? कम हुई तो अच्छी बात है। अधिक रही तो कारण क्या बना ? कारण की खोज करें। यह जागरूकता आ जाए तो एकाग्रता को साधने में बहुत सुविधा हो जाती है , एकाग्रता बहुत अच्छी सध जाती है। आप विचार को देखना शुरू कर देंगे तो स्वत ही एकाग्रता बढ़ जाएगी। हम विचार तो करते है, पर अपने विचारो से परिचित नहीं हे। विचार के साथ मैत्री स्थापित करे। जब मित्रता होती है तो स्थिति बदल जाती है।

सन् 1951 की घटना है। लदन मे पशुओ की एक प्रदर्शनी लगी। एक युवा दम्पती अपने कुत्ते के साथ आए। सामने शेर का पिजरा था। शेर को देखने लगे। कुत्ता पिजरे के जाल के सहारे भीतर चला गया। भीतर जाते ही शेर दहाडा। कुत्ता डर के मारे दुबक कर कोने मे बैठ गया। लोगो ने सोचा—कुत्ता तो समाप्त हो गया। सिह उसको देख रहा है। कुत्ता वही बैठा है। सिंह उसके पास गया। देखा—जैसे गाय बछडे को चाटती है, सिह ने कुत्ते को चाटना शुरू कर दिया। दोनो मे दोस्ती हो गई। युवा दम्पती ने सोचा—सिह को कुछ खाने को दे। उसे मास डाला गया। सिह ने उस मास के टुकडे किए। टुकडे कर कुत्ते को दे दिए। बडा विचित्र था। वह कुत्ते को खिलाने लगा। इतनी गहरी दोस्ती हो गई। लोगो ने कुत्ते को बाहर निकालने का प्रयत्न किया। पर न तो कुत्ता बाहर

आना चाहता और न सिह उसे बाहर जाने देता। दोनो साथ मे रहते, साथ मे सोते, साथ मे खाते। एक दिन अकस्मात कुत्ता मर गया। कुत्ते को बाहर निकाला गया। सिह उदास हो गया। उसने खाना छोड दिया। कुछ दिन बाद वह सिह भी मर गया। कुत्ता सिह से परिचित हो गया और सिह कुत्ते से परिचित हो गया। मगर हम अपने विचारो से परिचित नहीं होते।

विचार आते हैं, सताते है। पर हम उनसे मैत्री स्थापित नही करते। यदि हम अपने विचारो के साथ सम्पर्क स्थापित कर ले, उन्हे देखना शुरू कर दे कि कौनसा आया है तो वह विचार आगे नहीं बढेगा, वही थम जाएगा। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक यूग ने 'साइक' पर बहुत काम किया और कुछ नई स्थापनाए मनोविज्ञान के क्षेत्र मे की। यूग ने लिखा, एक बार मैं पेरिस मे बीमार हो गया। एक मानसिक चिकित्सक के पास गया। चिकित्सक ने मुझे सुला दिया और सुझाव दिया कि शिथिल हो जाओ। सुला कर कायोत्सर्ग कराया। चिकित्सक ने कहा—युवक! तुम शिथिल हो गए हो। अब ध्यान अपने मस्तिष्क पर लगाओ। अपने विचारो को देखना शुरू करो। यूग लिखते है कि जैसे ही मैने अपने विचारो पर ध्यान दिया, देखना शुरू किया, सारे विचार गायब हो गए।

घर मे चोर तब घुसता है जब घर खाली होता है। यदि घर का मालिक सावधान होता है तो ऐसा नही होता। हम जागरूक होते हैं तो विचार नही आते। हम खाली होते हैं तो दिमाग मे विचार भी बहुत आने लग जाते है। विचारो के साथ मैत्री करना सीखे, उन्हे देखना सीखे, अगर उठने से लेकर सोने तक हमारा यह क्रम चले, हम जागरूकता से रहे तो हमारी एकाग्रता बहुत सध जाएगी।

आवश्यकता है सयम की। जीवन की सफलता के लिए जरूरी है सयम। सयम के लिए आवश्यक है—प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान की शक्ति बढाने के लिए आवश्यक है मन की एकाग्रता, चचलता को कम करना। ये सारी बातें सध जाए तो एक नया सूरज उगेगा, नए जीवन की शुरुआत होगी। ऐसा जीवन होगा जिसकी आम आदमी कल्पना भी नहीं कर सकता।

50

अनुशासन का तट

आज के आदमी में अनुशासन नहीं है। प्रयत्न होता है कि विद्यार्थी में अनुशासन आए। कोई भी सत्ताधीश यह नहीं चाहता कि विद्यार्थियो में अनुशासन न आए। पिता भी यह नहीं चाहता कि घर में अनुशासन न हो। गुरु भी यह कभी नहीं चाहता कि शिष्य अनुशासन में न रहे। प्रत्येक व्यक्ति अनुशासन चाहता है। इतनी चाह होने पर भी अनुशासन नहीं आ रहा है। यह बहुत बड़ी समस्या है। जिसकी चाह हो और वह नहीं हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु जिसकी अत्यन्त आवश्यकता हो और वह न हो तो लगता है कि कहीं न कहीं कुछ कमी है।

शिक्षा के माध्यम से मानसिक और बौद्धिक विकास होता है पर अनुशासन का विकास नहीं होता। क्यो नहीं होता, इस पर भी हम ध्यान दें। अनुशासन आता है बुद्धि से परे और शिक्षा रह जाती है बुद्धि की सीमा में ही। एक है वह तट और दूसरा है यह तट। अब इस तट पर खडा आदमी यह चाहे कि वह तट यहा आ जाए, यह कभी सभव नहीं है। दो तट कभी आपस में मिलते नहीं। यदि मिल जाए तो वे फिर तट नहीं रहते। बीच में पानी की धारा बह रही है। दोनो मिले हुए नहीं हैं, इसीलिए तट हैं। इसी प्रकार हमारे भी दो तट हैं—एक है बौद्धिकता का तट और दूसरा है अनुशासन का तट। बौद्धिकता में ज्ञान की सारी प्रक्रियाए आ जाती हैं। मन का विकास हो चाहे इन्द्रियों का विकास हो, यह इसी तट की बात है। एक दूसरा तट है अनुशासन का। इन दोनों के बीच जीवन की धारा बहती है। जब तक आदमी इस तट को छोडकर उस तट पर नहीं पहुचेगा, तब तक अनुशासन नहीं आएगा। उसका आना कभी सभव नहीं लगता।

आश्चर्य होता है यह देखकर कि पढा-लिखा आदमी भी क्रोध करता है, बहुत क्रोध करता है। पढ़ा-लिखा आदमी भी बेईमानी करता है, चोरी करता है, दूसरों को कष्ट देता है। पर, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि वह पढा-लिखा है, उसमें बुद्धि का विकास हुआ है और बुद्धि का यह काम ही है। बुद्धि से तर्क पैदा होता है और तर्क सिखाता है अपना घर भरना, दूसरे को धोखा देना। यह उसके लिए असभव नहीं है। ये सब बुद्धि की सीमा में आने वाले कार्य हैं। तब आश्चर्य क्यों होता है? एक बुद्धिमान व्यक्ति, एक विद्वान् या न्यायशास्त्री ये सारे कार्य करते हैं तो आश्चर्य जैसा क्या है? एक व्यापारी यदि स्मगलिग करता है, मिलावट करता है, एक राज्य कर्मचारी यदि रिश्वत लेता है तो हम बुरा मानते हैं। पर बुरा क्यो है? उन्हें जो अनुशासन मिला है, उसकी सीमा

में ये सारे कार्य वैध माने जाते हैं, अवेध नहीं माने जाते। इनका आधार है उपयोगिता। उपयोगिता होती हे तो स्त्रियो को आबादी बढाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है और अनेक बच्चो की मा को पारितोपिक दिया जाता हे। उपयोगिता न हो तो नियत्रण की बात आ जाती है। उपयोगिता के आधार पर समाज ऐसी बात भी सोच लेता है कि समाज से बूढों को समाप्त कर दिया जाए। ये सारी बातें बुद्धि की सीमा में विहित हैं, अविहित नहीं हैं, फिर आश्चर्य कैसा ?

आश्चर्य का स्वर आता हे दूसरे तट से। हम दूसरे तट पर खडे होकर ऐसी बात करते हैं। यह भी बहुत वडा आश्चर्य हे। यह सारा हमारा भावपक्ष है। एक व्यक्ति क्रोधी है, एक अभिमानी है। एक व्यक्ति हीनभावना से ग्रस्त हे ओर एक व्यक्ति अह से ग्रस्त हे। एक व्यक्ति कायर हे ओर एक व्यक्ति साहसिक, लडाकू हे। ये जितने भी आवेग हैं, ये जितनी भी तरगें हैं, ये उसी तट को छूकर आ रही हें। एक अविकसित बालक भी इन भाव-तरगों से प्रभावित हो जाता है।

छोटी बच्ची घर जल्दी आ गई, मा ने पूछा–अरे, इतनी जल्दी कैसे आ गई ? अभी तो छुट्टी का समय नहीं हुआ हे ? बच्ची ने कहा–'मम्मी ! मेंने राखी को पीटा था, अत दीदी ने मुझे स्कूल से निकाल दिया।' मा ने पूछा–'तूने राखी को क्यों पीटा ?' वह बोली–'मा ! मुझे घर जल्दी आना था।'

छोटा बच्चा भी भाव से प्रभावित हो जाता ह। वह भावना से परे नहीं जा सकता। मन की चचलता, बुद्धि के गलत निर्णय, इन्द्रियों की चचलता–ये सारे अपने आप में दोपी नहीं हें। इनमें न मन का दोप हे, न बुद्धि का दोप है ओर न इन्द्रियों का दोष है। इनका दोष भी नहीं हे, अदोप भी नहीं हे। जितने दोप या अदोष, बुराई ओर अच्छाई आती हे वह दूसरे तट से आती ह। अच्छाई भी आती हे तो उस तट से आती है और बुराई भी आती हे तो उस तट से आती हे।

आज की शिक्षा का लगडापन यह है कि हम इस तट के बारे में खूब जानते हैं, किन्तु उस तट के बारे में नहीं जानते जहा से ये सारी विकृतिया, ये सारे दोष आ रहे हैं। सभवत शिक्षाशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेंगे कि हमारी शिक्षा अध्यात्म से जुडे, ध्यान से जुडे। वे अपनी सीमा बनाकर बेठे हें। वे यह मान बैठे हैं कि हमारा पूरा उपक्रम दृश्य जगत् के लिए हो सकता हे। अदृश्य जगत् हमारा विषय नहीं है, हमारी शिक्षा का क्षेत्र नहीं है, शिक्षा की सीमा मे नहीं है। इसलिए यह कभी भी सरकारी पाठ्यक्रम, केरिकुलम में नहीं जुड सकता। शिक्षा आयोग के अनेक सदस्यो से इस विषय की बातचीत करने पर यह प्रतीत हुआ कि उन्होने शिक्षा की जो एक सीमा बना रखी हे, उससे परे जाने के लिए वे तैयार नहीं हैं। और, यह उनके लिए अस्वाभाविक भी नहीं है। अब क्या करें ? कैसे इस बीमारी को मिटाए ? इस ज्वलत समस्या का समाधान

कैसे ढूढें ? क्या जीवन की यह विकृति वैसे ही पनपती रहे ? क्या हम सदा दूसरों पर आरोप लगाते ही रहे ?

जज ने अपराधी से कहा–'देखो, मैंने तुम्हे पहले ही कहा था कि अब मैं तुम्हें मेरी अदालत मे देखना नहीं चाहता। फिर भी आज तुम आ गए ?' अपराधी बोला–'हुजूर। इसमे मेरा कोई कसूर नहीं है, मैंने सिपाहियो से कहा था कि मुझे मत पकडो, वहा मत ले चलो, जज साहब ने मनाही की है, पर वे माने ही नहीं। मुझे पकड कर यहा ले आए। मैं क्या करूँ ?'

अपराधी अपराध करता चला जाता है। वह अपराध छोडना भी नहीं चाहता और कटघरे मे खडा होना भी नहीं चाहता। इसी प्रकार आज आदमी की ऐसी मनोवृत्ति हो गई है कि जीवन में विकार आते हैं पर वह उन विकारो के प्रतिकार की बात नहीं सोचता और सुधार की बात करता चला जाता है। यह मनोवृत्ति जब तक चलेगी तब तक सुधार नहीं होगा, समस्या का समाधान नहीं होगा।

51

आत्मानुशासन का विकास

आज सारे ससार में समस्या है—अनुशासन की। शिक्षा का उद्देश्य है—अनुशासन पैदा करना। अनुशासन पैदा नहीं हो रहा है। हर जगह माग है, पुकार है कि अनुशासन आए, अनुशासन जागे। पर, वह आ नहीं रहा है, जाग नहीं रहा है। प्रतीत होता है कि जो कुछ है वह जा रहा है, आ कुछ भी नहीं रहा है। ऐसा क्यो ?

अनुशासन का मूल है—आत्मानुशासन। शिक्षा का उद्देश्य है—आत्मानुशासन पैदा करना। आज परानुशासन इतना अधिक विकसित हो गया है कि आत्मानुशासन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हो रही है। आत्मानुशासन व्यर्थ प्रतीत हो रहा है। आत्मानुशासन की सार्थकता आदमी समझ नहीं रहा है। अध्यात्म-शिक्षा की चर्चा हो रही है। उसका उद्देश्य है—आत्मानुशासन पैदा करना। इस विषय में अध्यात्म के आचार्यों ने अनेक महत्त्वपूर्ण खोजें की हैं। स्वावलम्बन और स्व-निर्भरता—ये दो आत्मानुशासन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जो व्यक्ति स्वावलम्बी नहीं होता, स्व-निर्भर नहीं होता, वह आत्मानुशासी नहीं हो सकता। जो आत्मानुशासी होगा वही स्वावलम्बी और स्व-निर्भर होगा।

एक राजकुमार दीक्षित हो रहा था। माता-पिता ने कहा—कुमार! तुम बडे सुकुमार हो, बहुत कोमल हो। तुम दीक्षित हो रहे हो। तुम्हें ज्ञान नहीं है, शरीर में बीमारी पैदा हो जाएगी। हो सकती है तो चिकित्सा नहीं करा सकोगे। यह सयम का मार्ग है। बीमारी पैदा होने पर क्या करोगे ? कौन आहार-पानी लाकर देगा ? भूखे-प्यासे और रुग्ण होकर बैठे रहोगे। क्या प्राप्त होगा ?' राजकुमार बोला—'जगल में रहने वाले पशु बीमार हो जाते हैं, कौन उनकी परिचर्या करता है ? कौन उन्हें भोजन-पानी लाकर देता है ? रुग्ण पडे रहते हैं। जब स्वस्थ होते हैं तब जगल में जाकर खा-पी लेते हैं। जब ये पशु भी ऐसा कर सकते हैं तो मैं मनुष्य हूँ, ऐसा क्यो नहीं कर सकूगा ?'

यह एक महत्त्वपूर्ण खोज थी स्वावलम्बन और स्व-निर्भरता की। रोग की स्थिति में भी दूसरे का सहारा न लिया जाए। यदि रोग का प्रतिकार करना हो तो बाहरी वस्तु से न किया जाए। अमरीका में एक सस्थान ऐसा है, जिसके सदस्य दवा का कभी प्रयोग नहीं करते। वे कोई दवा नहीं लेते। ऑपरेशन की आवश्यकता होने पर भी ऑपरेशन नहीं कराते। सदस्य थोडे हैं, पर जो हैं, वे कट्टरता से इसका पालन करते हैं। सब कुछ वे ईश्वर पर छोड देते हैं। *'तेगिच्छ नाभिनदेज्जा'*—जैन मुनि चिकित्सा की इच्छा न करे। यह बहुत प्राचीन सिद्धान्त है। जैन आगमो में यह उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। यह

कैसे सभव हो सकता हे कि बीमारी हो ओर चिकित्सा न हो ? चिकित्सा हो सकती है, पर वह बाहरी वस्तु से न हो, यह इस सूत्र का हार्द है।

स्वावलम्वन और स्व-निर्भर होकर अपनी वस्तु से चिकित्सा करो, वाह्य वस्तु से चिकित्सा मत करो, पर वस्तु से चिकित्सा मत करो। शरीर में रोग पैदा होता हे तो शरीर मे निरोगता की भी पूरी व्यवस्था हे। आसनो का विकास इसी दिशा में हुआ था। चिकित्सा के लिए बाहरी वस्तुओ की अपेक्षा नहीं हे। आसनो का प्रयोग करो, चिकित्सा हो जाएगी। श्वास और विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग रोग-निवारण की दिशा में हुआ था। इसमें नाडी-विज्ञान का पूरा उपयोग किया गया था। पाचन कमजोर है, भोजन के बाद वज्रासन में बैठें, पाचन की दुर्वलता मिट जाएगी। पाचन की गडवड़ी है। भोजन के बाद दाए नथुने से पन्द्रह मिनट तक श्वास ले, पाचन स्वस्थ होने लगेगा।

हम पत्ते और फूल के अनुशासन को लाना चाहते हें ओर 'जड' (मूल) के अनुशासन को विस्मृत कर देते हैं। यूँ अनुशासन कभी नहीं आएगा।

आत्मानुशासन आएगा शरीर के अनुशासन से, मन के अनुशासन से। मानसिक अनुशासन के लिए अध्यात्म के आचार्यों ने सैकडो-सैकडों पद्धतिया खोजी थीं। वे बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। सवसे कठिन काम होता है इन विकल्पो के जाल को रोकना। इतनी कल्पनाए आती हैं, जिनका कहीं अन्त नहीं है। वे हैं असीम और अनन्त। आदमी नहीं चाहता इतनी कल्पनाए आएं। वह शात रहना चाहता है, पर ज्ञान के तन्तु ढीले हो जाते हैं, मस्तिष्क के तन्तु ढीले हो जाते हैं तब आदमी रोक नहीं पाता। वह अपने पर नियत्रण या अनुशासन नहीं कर पाता। व्यर्थ की कल्पना आती है, जिनका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। जिनके कार्यक्रम से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, वे सारी कल्पनाए आती रहती हें। उन कल्पनाओ को रोकने का अध्यात्म के सिवाय और कोई उपाय नहीं है।

चिकित्सा के क्षेत्र में डाक्टरो के पास एक उपाय है, कुछ गोलिया दे देना, ट्रेंक्विलाइजर का प्रयोग कर देना या सुला देना। नींद की गोलिया दे देना, यह कोई उपाय नहीं है। ये गोलिया शरीर के लिए हानिकारक होती हैं, हानि पहुचाती हैं और अधिक मानसिक अस्त-व्यस्तता पैदा कर देती हैं।

अध्यात्म ने विचार-शून्यता के लिए, निर्विकल्पता के लिए, चित्त को शात करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपाय खोजा था, वह था जीभ को स्थिर करना, यानी स्वरयत्र को स्थिर करना। योग के अनुभवी आदमी से पूछा जाए कि विकल्प बहुत आते हैं, क्या करूँ ? वह कहेगा—खेचरी मुद्रा करो। जीभ को उलट कर तालू की ओर ले जाओ, जीभ को अधर मे रखो। जीभ न ऊपर छूए, न दाए-बाए छूए। जीभ को अधर में रखो और हिलने मत दो। जीभ को स्थिर कर लो। वह बताएगा कि जीभ को दातो की जड में दबा दो, जिससे वह हिले-डुले नहीं और सबसे अनुभवी होगा तो वह बताएगा कि स्वरयत्र का

कायोत्सर्ग कर लो, स्वरयत्र को ढीला छोड दो। जिसने स्वरयत्र को ढीला करना सीख लिया उसने मानसिक विकल्पो पर अनुशासन पा लिया।

स्वरयत्र ढीला है तो विकल्प आएगा कहा से ? विकल्प आता है—भाषा से। भाषा चाहे बोली जाने वाली भाषा हो या अन्तर की भाषा हो, भीतर की भाषा हो। बाहर वचन न भी आए पर भीतर में तो हमारी भाषा चलती रहती है। जब-जब आदमी सोचता है तब-तब उसका फोटो लिया जाए, उसका परीक्षण किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि एक ओर दिमाग में चितन चल रहा है तो दूसरी ओर स्वरयत्र का कम्पन हो रहा है। स्वरयत्र कपित होगा चितन के साथ-साथ। जैसे ही हमारा चितन बन्द हुआ, स्वरयत्र का कपन बन्द हो जाएगा। यदि हमने स्वरयत्र के कपन को बद किया तो हमारा चितन बद हो जाएगा। विकल्प और स्वरयत्र की सक्रियता, दोनों साथ मे काम करते हैं।

हमने या हमारे पूर्वजो ने किसी कारणवश आत्मानुशासन की महत्त्वपूर्ण खोजो को भुला दिया। फिर भी चिन्ता की कोई बात नहीं है। जितने बचे हुए तथ्य हमे उपलब्ध हैं, वे भी पर्याप्त हैं, कम नहीं हैं। आज भी जितने साधन हमें उपलब्ध हैं, यदि उन साधनो का सम्यक् प्रयोग किया जाए, उनका उपयोग किया जाए तो आत्मानुशासन की उज्ज्वल सभावनाए हमारे सामने प्रस्तुत हो सकती हैं। पर, आदमी तो बहुत उलटे चलते हैं। चाहते हैं अनुशासन और आत्मानुशासन की जड को खोदने में लग जाते हैं।

हमारे भीतर की अग्नि, हमारे भीतर का तेज, उसमें से जो रश्मिया निकलती हैं वे रश्मिया ही हमें प्रभावों से बचा सकती हैं। अन्यथा उन प्रभावो से बचने का कोई उपाय नहीं है। जब प्रभाव से नहीं बच सकते तो आत्मानुशासन भी नहीं हो सकता। आत्मानुशासन का मतलब होता है बाहरी प्रभावो से बचना। आदमी कितना प्रभावित होता है। हर कोई प्रभावित कर देता है। एक छोटा बच्चा भी प्रभावित कर देता है और एक बूढा आदमी भी प्रभावित कर देता है। एक शब्द प्रभावित कर देता है और एक इशारा प्रभावित कर देता है। हम तो सारे प्रभावो के सक्रमणो के बीच में जी रहे हैं। हमारे पास एक ही उपाय है उन प्रभावो से बचने का, आत्मानुशासन का विकास।

शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है—आत्मानुशासन का विकास और यह कार्य जीवन-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा ही सभव हो सकता है।

52
परिष्कार की प्रक्रिया

व्यक्ति का सचालन एक तत्र के द्वारा होता है। प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति के लिए एक सशक्त तंत्र अपेक्षित होता है। प्रत्येक मनुष्य के साथ कार्यसचालन के लिए एक तत्र है और उसमें चार तत्त्व काम कर रहे हैं–शरीर, श्वास, वाणी और मन। ये चारो साधक भी बनते हैं और बाधक भी बनते हैं। विकास के हेतु भी बनते हैं और अवरोधक भी बनते हैं। यदि इन्हें शिक्षित कर लिया जाता है तो ये साधक बन सकते हैं, अशिक्षित रहते हैं तो बाधक भी बन जाते हैं। प्रश्न है अभ्यास का, शिक्षित करने का।

शरीर का महत्त्वपूर्ण भाग है–नाडी सस्थान, मस्तिष्क और पृष्ठरज्जु। हमारे शरीर में दो ध्रुव हैं। ऊपर का ध्रुव है–मस्तिष्क और नीचे का ध्रुव है– रीढ की हड्डी का निचला सिरा। मस्तिष्क चेतना का विकिरण करता है और पृष्ठरज्जु का निचला हिस्सा शक्ति का विकिरण करता है। एक शक्ति के सग्रह का अमोघ साधन है, दूसरा चेतना के सग्रह का अमोघ साधन है।

हमारे जीवन में चेतना और शक्ति–ये दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। दोनों को दो ध्रुव सभाले हुए हैं। एक ध्रुव है–मस्तिष्क या ज्ञान केन्द्र और दूसरा ध्रुव है–शक्ति केन्द्र। इनका सतुलित विकास होता है तो हमारी प्रवृत्ति का सचालन बहुत सहजता और सरलता से होता है।

शरीर तंत्र के संचालन का दूसरा तत्त्व है–श्वास। श्वास का मूल्याकन हुआ नहीं, बहुत कम हो पाया है। वस्तुत , वाणी, मन और नाडी सस्थान–इन सब में प्राण का सचार करने का माध्यम बनता है–श्वास। श्वास एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो बाह्य जगत में भी रहता है और अन्तर्जगत में भी रहता है। बाहर आता है और फिर भीतर जाता है। बाह्य और अन्तर–दोनों के बीच सेतु बना हुआ है हमारा श्वास। श्वास की प्रक्रिया बहुत छोटी लगती है, किन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। श्वास के प्रयोग हमारे प्राणवायु का संचालन करते हैं। ऑक्सीजन जाता है श्वास के माध्यम से। कार्बनडाइआक्साइड निकलता है श्वास के माध्यम से। श्वास भीतर जाता है तो प्राण तत्त्व लेकर जाता है और बाहर आता है तो दूषित तत्त्व को लेकर आता है। यह सारा कार्य श्वास के द्वारा हो रहा है। ऑक्सीजन के बिना कोई भी कोशिका काम नहीं कर सकती।

प्रत्येक कोशिका को प्राणवायु की जरूरत होती है। यह सारा ईधन उपहृत होता है श्वास के द्वारा। श्वास सारी सप्लाई कर रहा है। श्वास हमारी चेतना के जागरण में भी

बड़ा सहयोगी बनता है। चेतना के सूक्ष्म स्पदनों को सक्रिय बनाने में श्वास का बडा योग होता है।

तीसरा तत्त्व है—वाणी। वाणी हमारी प्रवृत्ति का और सामाजिकता का मुख्य माध्यम है। यदि वाणी नहीं होती तो समाज नहीं होता। पशुओं का समाज नहीं है। वह इसलिए नहीं है कि उनके पास भाषा नहीं है। वाणी के अभाव में समाज नहीं बनता। सस्कृत के कोशों में दो शब्द व्यवहृत है—समज और समाज। 'पशूना समज , मनुष्याणा समाज '- पशुओ का समूह 'समज' होता है और मनुष्यों का समूह 'समाज' होता है। भेद-रेखा यही कि पशुओं के पास वाणी नहीं है। वाणी के बिना व्यवस्थित चितन नहीं हो सकता और चिन्तन के बिना कोई समाज नहीं बन सकता। मनुष्य को वाणी भी उपलब्ध है, चिन्तन भी उपलब्ध है, इसलिए वह समाज बना पाया है। सामाजिकता का मुख्य आधार बनता है—वाणी।

चौथा तत्त्व है—मन। मन स्मृति, कल्पना और चिन्तन का माध्यम बनता है। हमारे जीवन की यात्रा इन तीनों के आधार पर चलती है। स्मृति के अभाव में यात्रा मुश्किल हो जाती है। कल्पना के बिना विकास की कोई बात नहीं सोची जा सकती। चितन के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। इन तीनों का सशक्त माध्यम है, हमारा मन।

ये चार तत्त्व—शरीर, श्वास, वाणी और मन हमारी प्रवृत्ति के, हमारे तत्र के मजबूत पाए हैं। इन चारों के बिना हमारी प्रवृत्तियों का सम्यक् सचालन नहीं हो सकता। पर ये बाधक भी बन जाते हैं। मन बहुत बाधक बनता है। अनावश्यक स्मृतिया बीच में आने लग जाती हैं। मन बाधा डालने लग जाता है। जो काम पाच मिनट में होना चाहिए, वह पचास मिनट में भी नहीं हो सकता। और कुछ लोग ऐसे हैं कि काम पूरा कर ही नहीं पाते। स्मृतियों का तार इस प्रकार उघडता है कि एक के बाद एक स्मृति का चक्र आता है, वह अनत बन जाता है और मूल बात वहीं की वहीं रह जाती है।

स्मृति हमारे कार्य में सहयोग देती है, बाधा भी देती है। कल्पना बहुत सहयोगी है तो कल्पना बहुत बाधा भी देती है। यदि कल्पना पर हमारा नियत्रण नहीं है तो कल्पना बहुत बाधक बन जाती है। कुछ लोग व्यर्थ की कल्पनाए करते रहते हैं। वे काल्पनिक जीवन जीते रहते हैं, यथार्थ के धरातल पर उनका पैर कभी टिकता ही नहीं। इससे जीवन मे बाधाए उपस्थित हो जाती हैं।

चिन्तन बहुत सहयोगी होता है तो चिन्तन बहुत बाधा भी उपस्थित करता है। इतना चिन्तन, इतना चिन्तन कि क्रियान्विति का सारा रस ही चिन्तन खा लेता है, क्रियान्विति को कभी मौका ही नहीं मिलता। चिन्तन कभी टूटता ही नहीं, क्रियान्विति कैसे हो? स्मृति, कल्पना और चिन्तन—ये तीनो बाधक भी बन जाते हैं।

मन साधक भी है और मन बाधक भी है। वाणी साधक भी है, वाणी बहुत बाधक भी है। वाणी की बाधा को सब लोग जानते हैं। थोडा-सा अप्रिय शब्द निकला, काम होते-होते रुक जाता है, टल जाता है। थोडा-सा अप्रिय शब्द निकला, परम मित्र शत्रु बन जाता है। मन की सारी क्रिया वाणी पर निर्भर है। स्मृति, कल्पना, चिन्तन सब भाषा पर आधारित हैं। भाषा के बिना न स्मृति, न कल्पना और न चिन्तन। सब भाषा के आधार पर ही चलते हैं।

शब्दानुशासन, मत्रानुशासन और मनोनुशासन—इन तीनो में भाषा को द्विरूप माना है। एक है बहिर्जल्प और दूसरा है अन्तर्जल्प। एक, जो बाहर से बोलते हैं और एक, जो भीतर से बोलते हैं—बाहर से कुछ नहीं बोलते, किन्तु भीतर से स्वरयत्र की सक्रियता बराबर बनी रहती है, बोलते चले जाते हैं। यह काम नींद में भी होता रहता है, सपने में भी होता रहता है। अन्तर्जल्प हमारा बद नहीं होता और इसीलिए बहुत सारे लोग अशब्द नींद नहीं ले पाते। उनकी नींद सशब्द होती है, स्वरयत्र बराबर चलता रहता है। भाषा जहा सहायक बनती है वहा भाषा बहुत बाधक भी बनती है। बहुत सारे मानसिक तनावो को पैदा करने में भाषा का, स्वरयत्र का बडा योग रहता है।

जहा श्वास बहुत सहायक है, वहा श्वास बहुत बाधक भी बनता है। एक आदमी को उत्तेजना बहुत आती है। बहुत क्रोध, बहुत अहकार, बहुत वासना, बहुत ईर्ष्या और बहुत घृणा आती है। इसका कई कारणो मे से एक महत्त्वपूर्ण कारण है—श्वास सधा हुआ नहीं है। सधा हुआ नहीं है इसीलिए वह श्वास इन वृत्तियो को पैदा करने मे निमित्त बन जाता है।

श्वास दो प्रकार का होता है—लबा श्वास और छोटा श्वास। जो सहज श्वास है वह वास्तव में लबा श्वास होना चाहिए। मैं सहज श्वास और लबे श्वास को पृथक् नहीं मानता। कुछ लोग कहते हैं कि श्वास तो सहज होता है उसे लबा किया जाता है, किन्तु वास्तव में दीर्घ श्वास ही सहज श्वास हो सकता है। एक मिनट में जो 15-16 श्वास लिए जाते हैं, वह वास्तव मे सहज श्वास नहीं हैं। श्वास की सख्या और कम होनी चाहिए। हमारी शारीरिक रचना के आधार पर यदि श्वास हो तो मैं समझता हूँ कि एक मिनट में 7-8 से ज्यादा श्वास नहीं होने चाहिए। किन्तु पद्रह-सोलह श्वास आते हैं। क्योकि हमारी शारीरिक सरचना के साथ-साथ हमारी मानसिक वृत्तिया भी काम करती है और उनसे प्रभावित होकर श्वास छोटा बन जाता है।

सूत्र इस प्रकार बनता है—उत्तेजना के क्षणो में श्वास छोटा होता है, या जब श्वास छोटा होता है तब आदमी को उत्तेजना आती है। क्रोध के क्षणो में श्वास छोटा बन जाएगा और जब श्वास छोटा आता है तो क्रोध आने के प्रसग ज्यादा बन जाएगे। श्वास जहा सहायक है, वहां श्वास बाधक भी बनता है।

हमारा नाड़ी-सस्थान प्रवृत्ति के सचालन में सहायता कर रहा है और उसके द्वारा ज्ञान और क्रिया दोनो सपादित हो रहे हैं। उसी के आधार पर ज्ञानवाही नाड़ी और क्रियावाही नाडी—दोनों अपना-अपना ठीक काम कर रही हैं और जीवन की यात्रा चल रही है, किन्तु जब नाड़ी-सस्थान सधा हुआ नहीं होता तो प्राण के प्रवाह अवरुद्ध हो जाते हैं और वे हमारे शरीर के भीतर अनेक विकृतिया पैदा करने लग जाते हैं। बहुत सारी विकृत आदतो के लिए नाडी सस्थान ही सहायक बनता है। इस प्रकार तत्र के चारो तत्त्व सहयोगी भी बनते हैं और बाधक भी बनते हैं। यदि शिक्षित हैं तो हमारा सहयोग करते हैं और अशिक्षित हैं तो हमारा अवरोध करते हैं।

शरीर की साधना, श्वास की साधना, वाणी की साधना और मन की साधना—इन चारो की साधना करना, चारो को शिक्षित करना प्रेक्षाध्यान की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, उसका मौलिक आधार है। जब तक आधार की बात समझ में नहीं आती, ठीक उपचार नहीं होता। कभी-कभी ऐसा होता है कि उपचार करने वाला स्वय बीमार पड जाता है तो उपचार की कठिनाई पैदा हो जाती है।

शरीर, श्वास, वाणी और मन—ये चार तत्त्व हैं उपचार करने वाले और ये ही बीमार हो जाते हैं तो फिर हमारे सामने समस्या पैदा हो जाती है। इनको स्वस्थ बनाए, सशक्त बनाए, शिक्षित करें तो हमारी बाधाए निरस्त हो सकती हैं। इनको प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया क्या है, यह एक प्रश्न है। प्रक्रिया के चार तत्त्व है—प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, कायोत्सर्ग और जागरूकता। देखना सीखें, ध्वनि तरग पैदा करना सीखें, शिथिलीकरण का अभ्यास करें, शिथिल होना सीखें, और जागरूकता का अभ्यास करें। यह पूरी प्रकिया है परिवर्तन की। यह पूरी प्रक्रिया है शिक्षण की, परिष्कार की।

53
स्वभाव-परिवर्तन

प्रश्न है कि आत्म-शोधन की प्रक्रिया क्या है और उसके सूत्र कौन-कौन से हैं? अध्यात्म के साधको ने, आत्म-द्रष्टाओं ने इस दिशा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण खोजें कीं और सौभाग्य है कि उनकी खोजें आज भी हमारे समक्ष सुरक्षित हैं। उनका पहला चरण है—कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग है—शरीर का शिथिलीकरण। इससे पुरानी आदतो में परिवर्तन आता है, उनका शोधन होता है। कायोत्सर्ग का सकल्प सूत्र है—'*तस्स उत्तरीकरणेण पायच्छित्तकरणेण विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेण पावाण कम्माण निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्ग।*' साधक सकल्प की भाषा में कहता है—जो आदत या स्वभाव प्रिय नहीं है, उसको उत्तर करने के लिए, उसका उदात्त रूप करने के लिए, प्रायश्चित करने के लिए, विशोधि करने के लिए, मन को निर्मल बनाने के लिए, जो व्यसन या आदत का घाव हो गया है, उस घाव को भरने के लिए, उस शल्य को मिटाने के लिए, उन बुरी आदतो के द्वारा जो मूर्च्छा के परमाणु, कर्म के परमाणु, चारो ओर शरीर और मन पर व्याप्त हो गए हैं, उन पापकारी परमाणुओं का उन्मूलन करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

कायोत्सर्ग सब दु खो से मुक्ति दिलाने वाला है, स्वभावों को बदलने वाला है। जो कायोत्सर्ग की प्रक्रिया को नहीं जानता, वह स्वभाव-परिवर्तन नहीं कर सकता।

सेल्फ हिप्नोटिज्म के विशेषज्ञो ने इसके चार सूत्र प्रस्तुत किए हैं। इस पद्धति का पहला सूत्र दिया है—ऑटो रिलेक्सेशन।' इसका अर्थ है—स्व-शिथिलीकरण। यह कायोत्सर्ग की ही प्रक्रिया है। कायोत्सर्ग किए बिना स्वभाव-परिवर्तन की प्रक्रिया फलित नहीं हो सकती। चाहे स्वभाव को बदलना हो, चाहे किसी बीमारी की चिकित्सा करनी हो, तो सबसे पहले कायोत्सर्ग करना होगा। यह पहला सूत्र है।

स्वभाव-परिवर्तन का दूसरा सूत्र है—सेल्फएनेलिसिस—अनुप्रेक्षा। जिसे हम बदलना चाहते हैं, जिस आदत में परिवर्तन लाना चाहते हैं, उसका विश्लेषण करना होता है। उसकी अनुप्रेक्षा करनी होती है। आत्म-निरीक्षण और आत्म-विश्लेषण करना होता है। सेल्फएनेलिसिस हिप्नोटिज्म की पद्धति का दूसरा सूत्र है। कायोत्सर्ग की पद्धति का भी दूसरा सूत्र है—अनुप्रेक्षा। दोनों पद्धतियाँ समानातर रेखाओ पर चलती हैं। यदि मैं क्रोध को छोड़ना चाहता हूँ तो मुझे सबसे पहले अपना आत्म-विश्लेषण (सेल्फएनेलिसिस) करना होगा कि क्रोध क्यों बुरा है? इसको क्यों छोडना चाहता हूँ? यदि वह बुरा नहीं हे तो छोडने की आवश्यकता ही नहीं है।

क्या क्रोध बुरा है—इसका मैं विश्लेषण करूँ। इसका विश्लेषण करूंगा, अनुप्रेक्षा करूगा, गहरे में उतरूगा तो अपाय-विचय ध्यान की स्थिति तक पहुच जाऊगा। वहा मुझे ज्ञात होगा कि क्रोध एक प्रकार का ज्वर है। वह जब शरीर में उतरता है तब शरीर को तोड देता है और शक्तियो को क्षीण कर देता है। क्रोध मस्तिष्क का ज्वर है, हृदय का ज्वर है और एड्रीनल ग्रथि का ज्वर है। जब मनुष्य क्रोध करता है तब सबसे पहला प्रहार मस्तिष्क पर होता है। मस्तिष्क ज्वर-पीड़ित हो जाता है। उस समय इतनी उत्तेजना और इतनी अतिरिक्त ऊर्जा खपती है कि बडी बेचैनी छा जाती है और सारा अंग-प्रत्यग प्रतप्त जैसा हो जाता है। क्रोध का दूसरा प्रहार होता है—हृदय पर। क्रोध आते ही हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। उसकी गति तेज हो जाती है और उसे अस्वाभाविक ढंग से काम करना पडता है। क्रोध का तीसरा प्रहार होता है—एड्रीनल ग्रथि पर। क्रोध के आते ही एड्रीनल ग्रथि को अतिरिक्त स्राव करना पड़ता है और उसकी शक्तिया क्षीण होने लगती हैं।

क्रोध से मस्तिष्क की शक्ति क्षीण होती है, हृदय की शक्ति क्षीण होती है और एड्रीनल ग्रथि की शक्ति क्षीण होती है। ये तीनो—मस्तिष्क, हृदय और एड्रीनल ग्रथि जीवन के महत्त्वपूर्ण अग हैं। क्रोध के कारण इन तीनों की शक्तिया क्षीण होती हैं। जब मस्तिष्क की शक्तिया क्षीण होती हैं, तब सारा नाड़ी-तत्र गडबडा जाता है। जब हृदय की शक्ति क्षीण होती है तब समूचा रक्त-सचार अस्त-व्यस्त हो जाता है। जब एड्रीनल ग्रथि-तत्र की शक्तिया क्षीण होती हैं तब शरीर की कर्मजा शक्ति नष्ट हो जाती हैं। ये हैं क्रोध के परिणाम। यह है उसका विपाक-विचय। अनुप्रेक्षा करते-करते जब मैं इन परिणामों पर पहुचता हूँ तब मुझे लगता है कि क्रोध कम करना चाहिए, उसे छोड देना चाहिए।

फिर प्रश्न होता है—क्या मैं क्रोध को छोड सकता हूँ? साधक इस पर विचार करता है। इस प्रश्न पर विचार करते-करते वह इस तथ्य पर पहुचता है कि मुझमें बहुत बड़ी क्षमता है। मैं क्रोध को छोड सकता हूँ। इस चितन से वह अनुप्रेक्षा के अगले चरण तक पहुच जाता है। वह विवेक पर पहुच जाता है।

कायोत्सर्ग का तीसरा सूत्र है—विवेक। साधक सोचता है कि मैं क्रोध को इसलिए छोड सकता हूँ कि मैं क्रोध नहीं हूँ। क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है। यदि क्रोध मेरा स्वभाव होता तो मैं क्रोध को कभी नहीं छोड़ पाता। कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव को नहीं छोड सकता, किन्तु क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है, स्वरूप नहीं है। मैं क्रोध नहीं हूँ। मैं उससे भिन्न हूँ। मैं ज्ञानमय हूँ, मैं दर्शनमय हूँ। मैं आनदमय हूँ। क्रोध मेरे ज्ञान को आवृत करता है। क्रोध मेरे दर्शन को आवृत करता है। क्रोध मेरे आनद को आवृत करता है। उसे विकृत करता है। मेरी शक्तियों को विनष्ट करता है। इस चिन्तन से वह इस विवेक पर पहुच जाता है कि मैं क्रोध नहीं हूँ और क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है।

इस प्रकार स्वभाव-परिवर्तन के तीन सूत्र हैं—कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा और विवेक।

जब साधक ने यह मान लिया है कि क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है, मैं क्रोध नहीं हूँ तो यह बात बहुत सुलझ जाती है, ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। जब ज्ञान स्पष्ट हो जाता है तब चरण अपने आप आगे बढने लगते हैं। भगवान् ने कहा—'पढम नाण तओ दया'। पहले ज्ञान स्पष्ट होना चाहिए। आत्म-सम्मोहन का एक कथन है—ज्ञान एक शक्ति है। ज्ञान जब स्पष्ट हो जाता है, तब आचरण की सुविधा हो जाती है।

स्वभाव-परिवर्तन का चौथा सूत्र है—ध्यान। दर्शन-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करें। दोनो भृकुटियो के बीच का स्थान है—दर्शन-केन्द्र। यह हमारे अन्तर्-ज्ञान का केन्द्र है। यह अन्तर्दृष्टि और सम्यग्-दृष्टि का केन्द्र है। जितना आतरिक ज्ञान प्रकट होता है, वह इसी केन्द्र से प्रकट होता है।

जब ध्यान दर्शन-केन्द्र पर स्थापित होता है, तब अपनी बात को भीतर तक पहुचाने मे बडी सुविधा हो जाती है। मनोविज्ञान मानता है कि जो बात हमारे स्थूल मन तक पहुचती है, वह कार्यकर नही होती। उससे व्यक्तित्व का परिवर्तन नहीं हो सकता। जब हम दर्शन-केन्द्र पर ध्यान करते है तब हमारा विचार, हमारा सकल्प, अन्तर्मन तक पहुच जाता है। वह सकल्प लेश्या-तत्र और अध्यवसाय-तन्त्र तक पहुच जाता है। परिवर्तन घटित होने लगता है। दर्शन-केन्द्र पर ध्यान करना चौथा चरण है।

स्वभाव-परिवर्तन का पाचवा सूत्र है—शरण। हमे शरण मे जाना होगा। आत्म-सम्मोहन के वर्तमान सिद्धान्त मे शरण की बात नही मिलती। वहा आत्म-शिथिलीकरण, आत्म-विश्लेषण और ऑटो-सजेशन की बात मिलती है, स्वत सूचना की बात मिलती है, किन्तु शरण की बात नही मिलती। किन्तु, शरण की चेतना जाग्रत होने पर स्वभाव में सकारात्मक परिर्वतन सहज बन जाता है।

कि मी , अततोगत्वा विराम लेना होगा। कार चलती है, उसे भी विराम लेना होता है। हर वाहन विश्राम लेता है फिर चाहे वह वायुयान हो, रेल हो, मोटर हो या बस। सबको निवृत्ति करनी पडती है।

प्रश्न है, निवृत्ति कहा से शुरू करे ? बहुत बार मेरे सामने समस्या आती है। अनेक व्यक्ति कहते है—क्रोध बहुत आता है। मै उन्हे उपाय बताता हूँ—जब क्रोध आए, उस समय आठ-दस मिनिट मौन करो अथवा पाच मिनिट जीभ उलट कर तालू की ओर ले जाओ। यह क्रोध-निवृत्ति का उपक्रम है। ऐसा करने पर क्रोध का परिणाम नहीं आएगा। क्रोध आना एक बात है और क्रोध को सफल बनाना, फलवान बनाना बिल्कुल दूसरी बात है। क्रोध का फल मत लगाओ। जैन आगम उत्तराध्ययन का प्रसिद्ध सूक्त है—'कोहे असच्च कुत्वेज्जा'—क्रोध को विफल करो।

हम केवल प्रवृत्ति नहीं, निवृत्ति करना सीखे। न बोलना निवृत्ति है, न सोचना निवृत्ति है। बहुत लोग सोचते ही रहते है, इतना ज्यादा सोचते हैं कि सोचते-सोचते स्वय मानसिक अवसाद को प्राप्त हो जाते है। उन्हे डिप्रेशन हो जाता है, और बहुत सी मानसिक बीमारिया हो जाती हैं। ज्यादा चितन बीमारियां पैदा करता है। निवृत्ति के द्वारा हमारे हाथ मे वह शक्ति आ जाती है कि जब चाहे तब सोचे और जब न चाहे तब सोचना बद कर दे। हम एक मिनट मे सोचना बद कर सकते हैं। हम लोग आगम-सम्पादन करते है तब काफी गभीर विषय आते है। खूब सोचना पडता है। घटा दो घटा काम किया। कार्य से निवृत्त होने के बाद कुछ पता ही नहीं रहता कि क्या काम किया है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि उनके दिमाग मे जो बात आ जाती है वह निकलती नहीं है। एक दिन, दो दिन नही, सप्ताह, महीना और वर्ष भर तक रहती है। गाठ खुलती ही नहीं है। ऐसा क्यो होता है ? इसलिए होता है कि वे निवृत्ति करना नहीं जानते।

तीन शब्दो पर ध्यान दे—वृत्ति, प्रवृत्ति और निवृत्ति। अगर आपको सुख से जीना है, मन को स्वस्थ रखना है, प्रसन्न रहना है, दु खी नहीं बनना है, हताश, उदास और बेचैनी का जीवन नहीं जीना है तो निवृत्ति करना सीखे। प्रवृत्ति और निवृत्ति मे सतुलन रखना सीखें। वृत्ति को एकदम नही मिटाया जा सकता। अगर कोई यह सोचे कि मैने ध्यान शुरू कर दिया है, मेरी वृत्ति शात हो जाएगी, यह सभव नही है। ध्यान के द्वारा वृत्ति को एकदम नहीं मिटाया जा सकता। प्रवृत्ति और निवृत्ति मे सतुलन साधे तो वृत्ति अपने आप मद हो जाएगी। वोल्टेज कम होगा तो बत्ती जलेगी पर प्रकाश स्वत मद हो जाएगा।

हम प्रवृत्ति और निवृत्ति मे सतुलन करने का प्रयत्न करे। बार-बार कायोत्सर्ग करे। मुनि के लिए दिन मे बीस बार से अधिक कायोत्सर्ग का विधान किया गया है। कोई भी प्रवृत्ति करो, साथ मे निवृत्ति करो, जिससे प्रवृत्ति का दोष समाप्त हो जाए।

प्रवृत्ति के पीछे एक विशेषण हे—सत्प्रवृत्ति। वह निरतर रहनी चाहिए। लम्बे समय तक हम किसी एक सत्पवृत्ति को नहीं कर सकते। विराम अथवा प्रवृत्ति का परिवर्तन अपेक्षित होता हे। स्वाध्याय करना अच्छी वात ह, किन्तु दीर्घकाल तक एक साथ नही किया जा सकता। जव स्वाध्याय करते थक जाए तो ध्यान कर ले। शरीर एक यत्र हे, उसको विश्राम देना ही पड़ता ह। इसीलिए यह वताया गया हे कि जो भी प्रवृत्ति करो, उतनी ही करो जितनी सहन कर सको। वहुत वर्ष पहले की वात हे। नेपाल से एक भाई ओर वहन शिविर मे आए। वहन को जप करना वहुत अच्छा लगा। उसने जप करना शुरू कर दिया। लगातार पाच-सात घटा जप करने लगी। दिमाग थोडा अस्त-व्यस्त हो गया। मेरे पास आए, कहा—इसकी स्थिति गडवडा रही ह, अव क्या करना चाहिए ? मने स्थिति की जानकारी ली। एक साथ सात-आठ घटे जप करने से ऊर्जा इतनी वढ गई कि दिमाग पर असर हो गया। मने कहा—एक साथ इतना जप क्यो किया, धीरे-धीरे वढाना चाहिए था।

प्रेक्षाध्यान के सदर्भ मे दो शव्दो का वहुत प्रयोग होता ह—चित्त ओर मन। मन सोचने का कार्य करता ह। मन को चलाने वाला ह चित्त। चित्त ह मालिक ओर मन हे उसका नोकर। कल्पना करना, चितन करना, स्मृति करना—ये सव मन के कार्य हं। चित्त इन सवको मचालित करता ह। प्रश्न ह वृत्ति आर सस्कार, दोनो में क्या अतर हे। सस्कार वृत्ति का ही एक नाम ह। वर्तमान का जो सस्कार ह वही वृत्ति वन जाता हे। मन आर चित्त साथ-साथ चलते हं। एक चलाता ह एक चलता हे। चित्त भीतर वेठा-वेठा आदेश देता ह। वह सेनापति ह, नियत्रण कक्ष मे वठा ह ओर वहा से सव पर नियत्रण कर रहा हे। सेना लड रही ह, सेनापति लडा रहा ह। मन सामने आता हे, चित्त भीतर छिपा रहता ह। मन की चचलता का कारण ह चित्त। चित्त की चचलता को मिटाए, मन की चचलता स्वत समाप्त हो जाएगी।

प्रवृत्ति ओर निवृत्ति के सतुलन का रहस्य-सूत्र हे—चित्त की चचलता का अल्पीकरण। हम चित्त की चचलता को कम करना सीखे, प्रवृत्ति ओर निवृत्ति के सतुलन का सूत्र हमारे हाथ मे होगा।

55

अहिंसा की खोज

आज के सारे समाज की जीवन-शैली व्यावहारिक अहिसा से प्रभावित जीवन-शैली है। इसीलिए जब कभी हिसा भडक उठती है एक समाज में, एक जाति मे, एक सप्रदाय मे और एक परिवार मे, तब जहा-तहा हिसा की चिनगारिया उछलती नजर आती है। हमारे जीवन की शैली जब तक व्यावहारिक अहिसा से प्रभावित रहेगी, तब तक ऐसा होता रहेगा। अहिसा पर अनुसधान करने वाले लोगो ने इस प्रश्न को उपस्थित किया है। मुझे लगता है, उन्होने परमार्थ की अहिसा को समझा नहीं है। केवल व्यावहारिक अहिसा के आधार पर यह प्रश्न पैदा किया और यह मान लिया कि समाज का विकास अहिसा के आधार पर हुआ है। अगर अहिसा नहीं होती तो मिलजुल कर नहीं रहते। यह बात ठीक है कि मिलजुल कर रहना भी एक विशेष प्रयोग है। ऐसे भी प्राणी है जो मिलजुल कर रहना नही जानते, प्रयोग करना नहीं जानते। हिसक पशु कभी अपना समाज नही बनाते, तो दूसरा वर्ग ऐसा है जो मिलजुल कर रहना जानता है और अपना समाज बना लेता है, एक दूसरे का सहयोग करता है। किन्तु, यह अहिसा की भूमिका नही है।

मनुष्य मे हिसा का जन्म हुआ है, वह आकस्मिक नही है। उसके पीछे अनेक कारण है। जब तक पारमार्थिक अहिसा का विकास समाज में नहीं होगा, हमारी जीवन-शैली पारमार्थिक अहिसा, वास्तविक अहिसा से प्रभावित नही होगी, तब तक समाज मे चल रही हिसा को कम नहीं किया जा सकेगा। हमे इस सत्य को समझना है कि पारमार्थिक अहिसा क्या है ? वास्तविक अहिसा क्या है, जिससे हम जीवन की शैली को प्रभावित करना चाहते है और वर्तमान जीवन की शैली को बदलना चाहते हैं।

पारमार्थिक अहिसा का आधार है--आत्मा। सब आत्माओ की समानता। जैसी मेरी आत्मा वैसी ही हर प्राणी की आत्मा। न केवल मनुष्य की आत्मा, पर हर प्राणी की आत्मा वैसी ही है जैसी कि मेरी है। यह आत्मा की समानता का सिद्धात ही पारमार्थिक अहिसा का आधार बन सकता है। जैसी सुख-दु ख की अनुभूति मेरी है, वैसी ही सब प्राणियो की है। इसलिए मुझे किसी भी प्राणी को दु ख नही देना चाहिए, सताना नहीं चाहिए। यह चेतना जब तक नही जाग जाती, तब तक पारमार्थिक अहिसा का विकास नही होता। जब तक उस अहिंसा का विकास नहीं होता, तब तक समाज मे जो छीना-झपटी, लूट-खसोट, मार-धाड चल रही है, एक दूसरे पर प्रहार और कष्ट देने का व्यवहार चल रहा है, उसे बन्द करना तो दूर, कम भी नही किया जा सकता।

तैमूरलंग क्रूर शासक था। एक बार उसके सामने दो गुलामो को पेश किया गया। मौत की सजा सुना दी। तीसरा जो बदी बनाकर लाया गया, वह था कवि अहमद। तेमूरलग ने पूछा—तुम तो कवि हो, मूल्याकन करना जानते हो, बताओ, जिन दो गुलामो को फासी दी है उनका मूल्य कितना ? कवि अहमद बोला—पाच-पाच सौ अशर्फिया। तैमूरलग मूड मे था, आगे पूछ बैठा—बताओ, मेरा मूल्य कितना ? कवि ने कहा—आपका मूल्य हे केवल पच्चीस अशर्फिया। शासक यह सुनकर क्रोध से जल उठा। गुलाम का मूल्य तो पांच सौ अशर्फिया और मेरा मूल्य मात्र पच्चीस अशर्फिया। कवि से कहा, 'इतना भी नहीं जानते कि पच्चीस अशर्फियो का मूल्य तो मेरी पोशाक का होगा ?' कवि ने कहा, 'मैंने विलकुल ठीक कहा हे। आपकी पोशाक का मूल्य ही मैंने वताया है। तेमूर ने पूछा—'फिर मेरा मूल्य क्या कुछ भी नहीं हे ?' कवि ने कहा—'बिलकुल नहीं। जो आदमी क्रूर हे, जिसमे दया नहीं ओर जो किसी को अपने समान समझता नहीं, जिसमे कोई सहानुभूति की भावना नहीं, जिसमे कोई न्याय नहीं, उस आदमी का दुनिया मे कोई मूल्य नहीं होता। आप निश्चित मानें—मैंने आपका मूल्य जीरो आका है, आपकी पोशाक का मूल्य ही पच्चीस अशर्फिया आका हे।'

हमारा मूल्याकन का एक दृष्टिकोण है। जो व्यक्ति परमार्थ की भूमिका पर मूल्य आकता ह वह वाहरी वात का मूल्य वहुत कम आकता हे। उसकी दृष्टि मे मूल्य होता हे अन्तर की वृत्तियो का। वह देखता ह कि व्यक्ति की आतरिक वृत्तिया कैसी हें ? उसकी भूमिका केसी ह। उसने किस भूमिका पर काम शुरू किया हे ? अहिसा के बारे मे हम वहुत कम सोचते हें, वात वहुत करते हें। इसलिए करते ह कि अहिसा के विना समाज सुख ओर शाति से जी नहीं सकता। समाज को जरूरत हे अहिसा की, इसलिए कि वह शाति के साथ जी सके, स्वस्थ रह सके। व्यावहारिक अहिसा के आधार पर हमने इस जरूरत का अनुभव किया, किंतु हमारी एक भूल रह गई। हमने पारमार्थिक अहिसा की ओर वहुत कम ध्यान दिया। आत्मा की समानानुभूति और समानता के बिन्दु का हमने कम से कम स्पर्श किया हे।

प्रेक्षाध्यान का एक सूत्र है—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का। कहा गया—*''सपिक्खए अप्पगमप्पएण''*—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। इसका अर्थ क्या हे ? यह परमार्थ की ओर सकेत करता है। केवल स्वार्थ पर आधारित जीवन-शैली की ओर मत देखो, केवल उपयोगिता के आधार पर जीवन-शैली की ओर मत देखो। जीवन का एक दूसरा पहलू है, उसे भी देखना सीखो। हमने दूसरे पहलू को देखना कभी सीखा नहीं। एक आख ही हमारा काम करती है। हम एक पहलू को ही जानते है, देखते हें, पहचानते हैं। जीवन का दूसरा पक्ष भी है जो बराबर का पक्ष है, पर हमारी आख सदा मूदी की मूदी रहती हे। हमने सही अर्थ नहीं समझा अहिसा का। हमने ध्यान ही नहीं दिया

इस पर। हमने भी अहिसा के संकेत को समझा नहीं। अहिसा का सकेत है—दोनों पक्षों को देखो। एक ही पक्ष को मत देखो, दोनों को देखो। व्यवहार को देखते हो तो परमार्थ को भी देखो।

दूसरे को देखते हो तो अपने आपको भी देखो। इस सकेत को हम नहीं समझ पाए। हम व्यवहार में अधिक चले गए और दूसरे को अधिक देखने लग गए। हम स्वय अपना विश्लेषण करें। हम पूरे दिन दूसरे को देखते हैं कि दूसरा क्या करता है, दूसरा हमारे लिए क्या कर रहा है। कोई भी गलती होती है तो आदमी अपने आपको बचा लेता है, गलती दूसरे पर आरोपित करता है। उसने ऐसा कर दिया है।

रसोई में घी का बर्तन पडा है। बहू चली, ठोकर लगी और घी ढुल गया। सास बोली—अधी है, देखकर नहीं चलती घी को नीचे गिरा दिया। यह दूसरे पर दोषारोपण हो गया। दो-चार दिनो के बाद वहीं बर्तन पडा था। सास जा रही थी, ठोकर लगी और घी नीचे गिर गया। तत्काल सास बोली—कितने बेवकूफ लोग हैं, रास्ते का ध्यान ही नहीं रखते, बर्तन को बीच में रख देते हैं। यह दोषारोपण भी हुआ दूसरे पर। अपने आपको आदमी बचा लेता है। इस बचाने वाली वृत्ति ने सचमुच अहिसा की कब्र खोद दी। जाने-अनजाने व्यावहारिक अहिसा की इस धारणा ने पारमार्थिक अहिसा की अन्त्येष्टि कर दी। हमने उसको भुला दिया।

आज हम सारे समाज का विश्लेषण करें, प्रत्येक व्यक्ति का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि पारमार्थिक अहिसा के लिए चितन का कोई अवकाश नहीं है। दूसरे पहलू के लिए, दूसरे पक्ष के लिए हमने सारी खिडकिया और सारे दरवाजे बन्द कर दिए हैं। केवल व्यवहार की बात चल रही है। और, हमारा प्रश्न भी है कि मनुष्य में हिसा का जन्म कैसे हुआ? व्यवहार की भूमिका पर चलते-चलते अगर हिसा का जन्म नहीं होगा तो और कब होगा? हमें इन दो शब्दो—व्यवहार और परमार्थ पर विशेष ध्यान देना है। यदि हमारा ध्यान इन पर केन्द्रित होगा तो मनोवैज्ञानिकों, प्राणी-वैज्ञानिको और आनुवशिकी वैज्ञानिकों द्वारा उठाया गया यह प्रश्न समाधान पा सकेगा।

हिसा के बीज कही बाहर नहीं हैं। हिसा का जन्म आज नहीं हुआ है। हिसा का जन्म पहले से ही हो चुका है। इस व्यवहार की अहिसा ने हिसा के प्रश्न पर आवरण डाल दिया है। जब भाई-भाई बडे स्नेह के साथ रहते हैं, पति-पत्नी बडे स्नेह और प्यार के साथ रहते हैं, एक बडे नगर में हजारो-हजारो लाखो-लाखो लोग बडे स्नेह और प्यार के साथ रहते हैं, तो हम एक भ्राति में चले जाते हैं कि कितनी अहिसा है। कोई हिसा ही नहीं है। यह भ्राति जब टूटती है तब प्रश्न पैदा होता है कि हिसा का जन्म कैसे हुआ?

हम भ्राति में जी रहे हैं। वस्तुत यह अहिसा नहीं है। न भाई-भाई में अहिसा है और न पिता-पुत्र में अहिसा है। न पडोसी-पडोसी में अहिसा है और न बृहत्तर लगने वाले

समाज में अहिसा है। मात्र एक उपयोगिता का धागा है। वह धागा है, तब तक ठीक चलता हे। जब धागा टूटता है तो हिसा भडक उठती हे। राजनीति में मित्रता का अर्थ है-- स्वार्थों का सामजस्य। जव तक स्वार्थ नहीं टकराते, तव तक मित्रता। स्वार्थ टकराया, फिर युद्ध तेयार। मित्रता होती नहीं हे। वास्तविक मित्रता नहीं होती राजनीति में और समाज में। इसलिए अहिसा के प्रश्न पर वहुत गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है।

में मानता हूँ, ध्यान का अभ्यास इस परमार्थ की दिशा में एक प्रस्थान है। ध्यान का अर्थ है अपने आपको देखना। अपने आपको देखने का अर्थ है अहिसा के मूल आधार को देखना, मूल आधार को खोजना। जव तक हम अपने आपको नहीं देखेंगे तब तक अहिसा के मूल आधार को नहीं खोज पाएगे। हमारी अहिसा की खोज अधूरी रहेगी और वह कभी पूरी नहीं होगी।

56

हिंसा-अहिंसा एक साथ

क्या जरूरत है शांति के प्रयत्नो की ? कोई जरूरत नहीं है—अगर ऐसा मान लें तो फिर हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहना है और यही सोचना है कि ऐसा होना है और हमें ऐसा भोगना है। हमारे पास इसका कोई उपचार नहीं है। यदि हिसा की जड मौलिक मनोवृत्ति है तो भी यही कठिनाई है। मनोवृत्ति को बदलना मनोविज्ञान के क्षेत्र में असभव जैसा है। जैसे 'जीन' पर हमारा कोई वश नहीं है, मौलिक मनोवृत्ति पर भी हमारा कोई वश नहीं है।

अगर हम मौलिक मनोवृत्ति को जड मान लें तो कोई प्रयत्न करने की जरूरत नहीं है। सिर्फ अपने भाग्य को कोसते रहें और नियति की ओर झाकते रहे। अगर मात्र परिवेश ही हिसा का कारण है तो बहुत बार एसा होता है कि परिवेश बदल देने पर भी आदमी की वृत्ति बदलती नहीं है, हिसा की बात बदलती नहीं है। यदि हिसा का कर्म से सबध है तो वहा भी यह समस्या आ सकती है कि हम ऐसा क्यो करें ? कर्म तो बदला नहीं जा सकता। यह माना जाता है कि जैसा भाग्य में लिखा है, आदमी को भोगना है। जैसा कर्म किया है आदमी को भोगना है, किए हुए कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

समस्या है और निराशावाद है। हम निराश होकर बैठ जाए, कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। कर्मवाद का एक सिद्धात है कि कर्म भुगतना पडता है, पर साथ ही साथ यह भी सिद्धात है कि कर्म को बदला भी जा सकता है। यही आशा की एक किरण हमारे सामने आई है। जरूरी नहीं है कि जो किया है उसे वैसा ही भुगतना पडेगा। उसे बदला जा सकता है, यह एक दार्शनिक सिद्धात है। इसके सदर्भ में क्या हम लौटकर नहीं देख सकते ? जीन को भी बदला जा सकता है। मौलिक मनोवृत्ति को भी बदला जा सकता है। परिवेश को भी बदला जा सकता है। यह परिवर्तन की बात हमारे सामने आती है। परिवर्तन का सूत्र हमारे हाथ लगता है तो एक नई आशा फिर जाग जाती है कि हम बदल सकते हैं और हिसा को बदला जा सकता है।

बदलने का सूत्र है—अहिसा का विकास। हमारे भीतर हिसा और अहिसा, दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। कोरी हिसा की जड ही हमारे भीतर विद्यमान नहीं है, अहिसा की जड भी हमारे भीतर विद्यमान है। दोनो हमारे भीतर हैं—हिसा और अहिसा। हमारी जो मस्तिष्कीय प्रणाली है, उसमें दो प्रणालिया हैं। एक प्रणाली है कि गुस्सा करो, क्रोध करो, क्योंकि स्थिति से निपटना है। दूसरी प्रणाली यह भी है कि अभी मत करो, थोड़ा रुको। यह हमें रोकती है।

क्रोध आने की प्रणाली हमारे मस्तिष्क में हे तो क्रोध पर नियत्रण पाने की प्रणाली भी हमारे मस्तिष्क में है। एक प्रणाली कहती ह, लडो, झगडो, गुस्सा करो तो दूसरी कहती हे कि अभी मत करो, जरा रुको, देखो, कुछ ठहरो। एक उकसाती हे तो दूसरी रोकती ह। दोनों प्रणालिया हमारे भीतर विद्यमान हैं। युद्ध ओर शाति, हिसा और अहिसा—दोनों हमारे भीतर विद्यमान हैं। केवल हिसा की जड ही हमारे भीतर विद्यमान नहीं हे, अहिसा की जड भी हमारे भीतर है। स्वर्ग ओर नरक दोनो हमारे भीतर हें।

चीन का एक दार्शनिक था नानूसीजी। उनके पास एक सेनापति आया। बहुत नाम सुना था दार्शनिक का। प्रसिद्ध सत था। आकर बोला, मेरे प्रश्न का उत्तर दें ? क्या प्रश्न हे तुम्हारा ? उसने कहा, स्वर्ग क्या हे ओर नरक क्या ह ? सेनापति था, योद्धा था। योद्धा की बोली अलग प्रकार की होती हे ओर भावना भी अलग प्रकार की होती है। बड़ी तेज भाषा में कहा, जल्दी मेरे प्रश्न का उत्तर दें। सत ने सोचा—बडा अजीब आदमी हे। आया हे जिज्ञासा को लेकर ओर बोल रहा हे लडने के मूड में। सत भी बडे विचित्र थे। नानूसीजी ने कहा, क्या तुम सेनापति हो ? उसने कहा, तुम्हें दीख नहीं रहा हे ? सत ने कहा, दीख रहा हें, तुम सेनापति हो, पर तुम्हारी सूरत तो ह भिखारी जेसी। इतना सुनते ही उबल पडा सेनापति। वह बोला—दीखता नहीं, तलवार हे मेरे हाथ में। सत बोले—अच्छा, तलवार भी रखते हो ? पर इसके धार ह या नहीं ? उसने तलवार म्यान से बाहर निकाली। सत बोले—धार तो हे। क्या तुम मेरा सिर काट सकते हो ? वह ओर अधिक गुस्से में उबल पडा। इतना उबल पडा कि आपा खो बेठा।

सत बोले—सेनापति! तुम जानना चाहते थे कि स्वर्ग क्या हे और नरक क्या हे ? तो सुनो—यह हे नरक। यह हे तुम्हारे एक प्रश्न का उत्तर। इतना सुनते ही सेनापति शात हो गया। सारा गुस्सा समाप्त हो गया। वह झुका ओर सत के पेरों में गिर पडा। सत ने उसे उठाते हुए कहा— सेनापति! यह हे स्वर्ग। यह हे तुम्हारे दूसरे प्रश्न का उत्तर। यह स्वर्ग ओर नरक कहीं बाहर नहीं हें, हमारे भीतर हें।

हिसा ओर अहिसा—दोनो मनुष्य के भीतर हें। हिसा की जड भी हमारे भीतर विद्यमान हे ओर अहिसा की जड भी हमारे भीतर विद्यमान है। किसको पकडना है और किसे विकसित करना हे, यह सोचना है।

57

अहिंसा का पोषक—ध्यान

आज एक प्रश्न है कि समाज में इतने अपराध क्यों हैं? शायद इस प्रश्न पर गम्भीरता से चितन नहीं किया गया, इसका समाधान गभीरता से नहीं खोजा गया कि अपराध क्यो बढ रहे हैं? मनुष्य को जितनी हिसा की घटनाए, चर्चाए और वार्ताए सुनने को मिलती है, उसकी तुलना में अहिसा का एक अश भी देखने-सुनने को नहीं मिलता।

प्रश्न उठता है कि आज प्रतिष्ठा किसको मिल रही है? समाचार पत्रो में मुख्यतया किसके समाचार छप रहे हैं सुर्खियो में? सारे समाचार पत्र हिसा, बलात्कार, लूट-खसोट के समाचारो से भरे पडे हैं। व्यक्ति देखता है कि हजार प्रयत्न करने पर भी समाचार पत्र में कभी नाम नहीं आता है और चोरी-डकैती की, सारे समाचार पत्रो में तूती बजने लग जाती है। किसका मन नहीं ललचाता? यह तो बहुत अच्छा तरीका है प्रसिद्ध होने का।

प्राचीन काल में एक नीति का सूत्र था—बुरी बात को फैलाना नहीं चाहिए। एक आदमी दूसरे की बुराई करता है तो दूसरा कहता है—भाई! इससे क्या लाभ होगा? इसे यहीं रहने दो, आगे मत कहो। इसलिए हमें सबसे पहले ध्यान देना है अपने परिवेश पर, अपने वातावरण पर। हमने अपने चारो ओर किस प्रकार के वातावरण का निर्माण कर रखा है? वह जब तक नहीं बदलेगा, हिसा को उत्तेजना देने वाली जो घटनाए और निमित्त हैं, उभरेंगे और हिसा उभरेगी। वैसे मैं नहीं मानता कि परिवेश बदलने से सब कुछ बदल जाएगा। जड की बात पर भी हमें जाना होगा, मूल तक जाना होगा।

एक तत्त्व है उसको सिद्ध करने वाला और एक है उसमें बाधा डालने वाला। आज हिसा के साधक तत्त्व ज्यादा हैं। काम, क्रोध, लोभ, भय, सदेह—ये सब हिसा के साधक तत्त्व हैं। हिसा का एकमात्र बाधक तत्त्व है—अध्यात्म, आत्मा का ज्ञान, आत्मानुभूति, समानानुभूति।

एक घटना के द्वारा इस बात का विश्लेषण करें। एक सन्यासी ने प्रसन्न होकर एक व्यक्ति को पारसमणि दे दी। पारसमणि वह होती है जो लोहे को सोना बना देती है। सन्यासी ने कहा—छह महीने की अवधि हैं, जितना सोना बनाना चाहो, बना लेना। मैं ठीक छह माह के बाद आऊगा और अपनी पारसमणि को ले जाऊगा। एक अवसर, जिसे स्वर्णअवसर कहा जाता है, वह सामने था। उस व्यक्ति ने सोचा, अभी तो बहुत समय है। महीने, दो महीने तो ध्यान ही नहीं दिया। फिर ध्यान दिया पर आलस्यवश छह माह निकाल दिए। सन्यासी आ गया, पूछा—कितना सोना बनाया? उसने कहा, कुछ भी नहीं

हिन्दुस्तान एकजुट नहीं रहा तो पाकिस्तान आक्रमण कर देगा। पाकिस्तान के सामने हिन्दुस्तान एक बहाना बन जाता है कि पाकिस्तान एकजुट नहीं रहा तो हिन्दुस्तान आक्रमण कर देगा। मोलिक मनोवृत्ति को वदलना है। 'जीन' को भी वदलना ह ओर कर्म को भी वदलना हे। यद्यपि आनुवशिकी वेज्ञानिक वदलने की वात को नहीं मानते। वे कहते हें 'जीन' को नहीं वदला जा सकता। मनोवेज्ञानिक भी मोलिक मनोवृत्ति को वदलने की वात को नहीं मानते। कभी मानते ह तो वडी मुश्किल से मानते हें। किन्तु कर्मवाद मे यह वात मानी गई कि कर्म को वदला जा सकता हे। सव कर्मवादी इस वात को नहीं मानते कि कर्म को वदला जा सकता ह। पर, कुछ दार्शनिको ने इस पर गभीरता से विचार किया कि कर्म को वदला जा सकता हे। न वदला जा सके तो फिर साधना ओर तपस्या सारे वेकार हो जाते हें, कोई अर्थ नहीं होता।

सवसे वडा उपाय हे—ध्यान। ध्यान के द्वारा हिसा की जडों को आसानी से काटा जा सकता हे। ध्यान ओर अहिसा का क्या सवध हे ? हिसा की जडो को सिचन देने वाले तत्त्व कोन हें ? उन्हें जाने विना जड का निर्मूलन नहीं किया जा सकता। हिसा के जो पोपक ओर सिचक तत्त्व हें उन्हें जानना भी जरूरी ह। हिसा का एक वहुत वडा पोपक तत्त्व हे—तनाव। वही आदमी हिसा करता ह जो तनाव से ज्यादा ग्रस्त होता हे। शिथिलीकरण की दशा में कोई आदमी हिसा नहीं कर सकता। पहले मासपेशियों में तनाव होता ह, मानसिक तनाव होता है, भावनात्मक तनाव होता हे ओर आदमी हिसा पर उतारू हो जाता हे। मूल की दृष्टि से विचार करें तो सवसे वडा तनाव भावनात्मक तनाव हे, आवेश-जनित तनाव हे।

58

हिंसा का उपचार–ध्यान

तनाव दो प्रकार का होता ह–आवेशजन्य तनाव और अवसादजन्य तनाव। क्रोध का तनाव आर लोभ का तनाव, आवेशजन्य तनाव हे। अवसादजन्य तनाव हे–निराशा, निष्क्रियता, निठल्लापन। दोनों प्रकार के तनाव आदमी को हिसा की ओर ले जाते हैं। ज्यादातर हिसक घटनाए क्रोध के कारण हुई हें। क्रोध में युद्ध तक की स्थिति आ जाती ह। युद्ध एक भयानक घटना ह। हिसा का एक भयानक उदाहरण हे। अहकार के कारण भी हिसा की वडी-वड़ी घटनाए हुई हें। जहा भी अहकार को थोडी चोट पहुचती हे, युद्ध की स्थिति वन जाती ह।

कितनी छोटी वात पर हिसा भडक उठती ह? कितनी छोटी वात पर युद्ध शुरू हो जाता हे? कुछ भी लेना-देना नहीं था, पर अह पर थोडी-सी चोट हुई और एक युद्ध प्रारम्भ हो गया। क्रोध का आवेश, अहकार का आवेश, लोभ का आवेश–ये आवेश आदमी को हिसा की ओर ले जाते हें। ये हिसा के सवसे वडे सहायक और पोपक-तत्त्व हें।

आदमी प्रयत्न करता ह, पर सफलता नहीं मिलती, वह निराश व्यक्ति कभी-कभी अपनी हिसा की वात सोच लेता ह। वहुत सारी आत्महत्याए अवसाद के कारण होती हें। अवसाद जो तनाव पेदा करता हे, उसमें मरने के सिवाय कुछ भी नहीं सूझता।

ये दोनों प्रकार के तनाव–आवेशजन्य तनाव ओर अवसादजन्य तनाव मनुष्य को हिसा की ओर ले जाते हें। तनाव को मिटाने का सवसे शक्तिशाली साधन हे–ध्यान। ये जितने तनाव पेदा होते हें, चाहे मासपेशियों के तनाव हों, चाहे मानसिक या भावनात्मक हों ओर चाहे अवसादजन्य हों, उन्हें मिटाने का सवसे शक्तिशाली अस्त्र है ध्यान। ध्यान का मुख्य कार्य हे व्यक्ति को तनाव से मुक्त करना। भावनात्मक तनाव को मिटाने के लिए ध्यान के सिवाय अन्य वडा कोई साधन नहीं हे। ध्यान के साथ कायोत्सर्ग और अनुप्रेक्षा–ये सव उसके परिवार में हें। ये सारे तनाव-मुक्ति में काम आते हैं।

तनाव आया, मासपेशी में तनाव आया। कायोत्सर्ग किया और वह समाप्त। मानसिक तनाव आया, दस मिनट दीर्घश्वास प्रेक्षा का प्रयोग किया ओर तनाव समाप्त। इन्द्रिय-सयम मुद्रा का प्रयोग किया ओर मानसिक तनाव समाप्त। भावनात्मक तनाव आया और दीर्घश्वास प्रेक्षा का प्रयोग किया, ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान किया और भावनात्मक तनाव समाप्त। अनित्य और एकत्व अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया और तनाव समाप्त।

तनावजनित जितनी हिसाए होती हैं उन हिसाओ को दूर करने का एक सफल प्रयोग है—ध्यान।

हिसा का दूसरा तत्त्व है—रासायनिक असतुलन। हिसा केवल बाहरी कारणो से ही नहीं होती, उसके भीतरी कारण भी हैं। हमारे भीतर हिसा का कारण है और वह है—रासायनिक असतुलन। हमारी ग्रथियो में जो रसायन बनते हैं, उन रसायनों में जब असतुलन पैदा हो जाता है तब व्यक्ति हिसा पर उतारू हो जाता है।

सभी अन्त.स्रावी ग्रथियो का अपना-अपना काम है। पिच्यूटरी का अलग फक्शन है, पिनियल का अलग है, थायराइड का अलग है, एड्रीनल का अलग है। सबके अपने-अपने फक्शन हैं। ये सतुलित काम करती है तो व्यक्ति सतुलित रहता है। इनमें असतुलन हुआ, रासायनिक प्रक्रिया गडबडाई कि आदमी का मस्तिष्क विक्षिप्त-सा हो जाता है और हिसा की वृत्तिया जाग जाती हैं। ध्यान के द्वारा रासायनिक सतुलन पैदा किया जा सकता है। चैतन्य केन्द्र-प्रेक्षा इसके लिए सशक्त प्रयोग है। दर्शन-केन्द्र पर ध्यान करते हैं तो पिच्यूटरी का स्राव सतुलित हो जाता है। ज्योति-केन्द्र पर ध्यान करते हैं तो पिनियल का स्राव सतुलित हो जाता है। कठ पर ध्यान करते हैं, विशुद्धि-केन्द्र पर ध्यान करते हैं तो थायराइड का स्राव सतुलित हो जाता है। तैजस केन्द्र पर ध्यान करते हैं तो एड्रीनल का स्राव सतुलित हो जाता है।

हमारे भीतर बहुत सारे रसायन हैं। आज के जैव-रासायनिक वैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे एक रसायन काम करता है। आदमी क्रोध करता है तो भी एक रसायन काम करता है, क्रोध का शमन करता है तो भी एक रसायन काम करता है। हमारे हर व्यवहार के पीछे एक प्रकार का रसायन होता है। क्रोध के रसायन को निलंबित करना और शाति के रसायन को उत्तेजित करना, यह ध्यान के द्वारा सभव बनता है।

एक उत्तेजक होता है और दूसरा शामक होता है। शामक आते ही उत्तेजना समाप्त हो जाती है। दोनो प्रकार के तत्त्व काम करते हैं। उत्तेजक तत्त्व काम करता है तो शामक तत्त्व भी अपना काम करता है। उत्तेजक तत्त्व आता है तो दूसरा तत्त्व या दूसरी प्रणाली शामक तत्त्व प्रस्तुत कर देती है। दोनो चलते हैं। यदि हम चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा का प्रयोग करें तो शामक तत्त्व इतना प्रबल होता है कि दूसरी बात बिल्कुल दब जाती है। इस रासायनिक असतुलन को मिटाने का शक्तिशाली माध्यम है चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा। इसलिए ध्यान और अहिसा का सबध हमारी समझ में और गहरा बैठ जाता है।

तीसरा तत्त्व है—नाडीतत्रीय असतुलन। नाडीतत्रीय असतुलन पैदा होते ही आदमी अकारण ही हिसा पर उतारू हो जाता है। बहुत लोग ऐसे होते हैं जिन्हें मारने में मजा आने लगता है। मारने का कोई प्रयोजन नहीं है, न कोई अपराध, न कोई वैर-भाव, न कोई द्वेष और न कोई बदला लेने की भावना, कुछ भी नहीं, बस मारने में मजा आने लग गया।

ऐसा क्यो होता है ? यह होता है—नाडीतत्रीय असतुलन के कारण। रासायनिक असतुलन के कारण मारना उसके लिए आनन्द और मनोरजन का विषय बन जाता है।

नाडीतत्रीय असतुलन को मिटाने का महत्त्वपूर्ण उपाय है समवृत्ति-श्वास-प्रेक्षा। दोनों नथुनों से श्वास, यानी बाए से शुरू करना ओर दाए से निकालना और दाए से लेना और बाए से निकालना। हमें नाडीतत्र का सतुलन पैदा करना है। उसके दो हिस्से हैं—एक बाया और एक दाया। हठयोग में इसे कहा गया है इड़ा और पिगला। बाया हिस्सा इडा है। मेडिकल साइन्स की भाषा में कहें तो यह पिगला सिपेथेटिक-नर्वससिस्टम है, अनुकपी नाडीतत्र है ओर दाया हिस्सा, पेरासिपेथेटिक-नर्वससिस्टम है, परानुकपी नाडीतत्र है। हम समवृत्ति श्वास प्रेक्षा का प्रयोग करते हैं। दोनों नाडीतत्रो में सतुलान पैदा हो जाता है। जब हम अन्तर्यात्रा का प्रयोग करते हैं तो केन्द्रीय नाडीतत्र में सतुलन पैदा हो जाता है।

नाडीतत्र के तीन भाग हैं—1 केन्द्रीय नाडीतत्र, 2 अनुकपी नाडीतत्र और 3 परानुकपी नाड़ीतत्र। इन सबमें एक सतुलन स्थापित हो जाता है अतर्यात्रा और समवृत्ति-श्वासप्रेक्षा के प्रयोग से।

यह सतुलन स्थापित होता है तो हिसा की भावना अपने आप बन्द हो जाती है। हिसा का चौथा बहुत बडा माध्यम है, निषेधात्मक दृष्टिकोण। दृष्टिकोण दो प्रकार का होता हे—निषेधात्मक और विधायक, नेगेटिव और पॉजिटिव। सामान्यतया व्यक्ति में निषेधात्मक दृष्टिकोण अधिक मात्रा में मिलता है, विधायक दृष्टिकोण कम मात्रा में मिलता है। निषेधात्मक दृष्टिकोण आदमी को हिसा की तरफ ले जाता है। घृणा, ईर्ष्या, भय, कामवासना, ये सब निषेधात्मक दृष्टिकोण हैं। घृणा के कारण आज कितनी हिसा हो रही है ? जितनी जातीय हिसा है, जितनी रगजनित हिसा है और जितनी सवर्ण और असवर्ण की हिसा है, ये सारी हिसाए घृणा के आधार पर चल रही हैं। घृणा का एक ऐसा तत्त्व आदमी के भीतर बैठा है कि वह दूसरे से घृणा करता है, दूसरे को छोटा मानता है और अपने आपको वडा मानता है। आज विश्व के सामने भयकर समस्या है जाति की समस्या और रग की समस्या।

ईर्ष्या के कारण भी कितनी ही हिसा होती है। दो व्यक्ति देवी की साधना करते थे। देवी प्रसन्न हो गई और बोली—वरदान मागो। देवी ने सोचा—परीक्षा तो करू कि इनका भाग्य कैसा है। उसने कहा, जो पहले मागेगा उसे आधा दूगी और जो बाद में मागेगा उसे दूना दूगी। अब बड़ी समस्या खडी हो गई। उसमें एक था लोभी। लोभ भी एक निषेधात्मक दृष्टिकोण है। उसने सोचा, यदि मैं पहले मागूगा तो ठगा जाऊगा। दूसरा था ईर्ष्यालु। दोनो में ठन गई। क्या करे ? देवी ने कहा, इतना समय मैंने दे दिया अब मैं जा रही हूँ, मागना हो तो मागो। लोभी तो टस से मस नहीं हुआ और ईर्ष्यालु सोचता है कि यह मेरे से भिडा है अब इसे मजा चखाऊगा। निषेधात्मक दृष्टिकोण जाग गया। वह

बोला—माता! कृपा कर मेरी एक आख फोड दो। अपनी एक आख फुडा ली। उसे क्या मिला। दूसरा बेचारा अधा हो गया।

ध्यान एक प्रयोग है विधायक दृष्टि के विकास का। प्रेक्षाध्यान में बार-बार कहा जाता है कि अपने आपको देखें, अपने द्वारा अपने को देखें। अपने आपको देखना एक ऐसा सूत्र है जो निषेधात्मक भावो को मिटाता है और विधायक भावों का निर्माण करता है। जब व्यक्ति अपने आपको देखने लग जाएगा और दूसरा सामने नहीं होगा तो निषेधात्मक भाव अपनी मौत मरने लग जाएगा।

हिसा का पाचवां प्रबल तत्त्व है—चचलता, सक्रियता। वह तीन प्रकार की है--मन की चंचलता, वाणी की चचलता और शरीर की चचलता। चचलता हिसा को बढावा देती है। सक्रियता हिसा को बढावा देती है। यह सही है कि चंचलता के बिना जीवन की यात्रा नहीं चलती, किन्तु उसकी एक सीमा है कि आदमी को कितना चचल होना चाहिए। ऐसा लगता है कि आज का युग सीमा को पार कर गया। यह अधिक चचलता हिसा को प्रोत्साहन दे रही है। यदि कोई आदमी 24 घटे प्रवृत्ति में रहे, सक्रिय रहे तो दो चार दिन में आधा पागल बन जाता है। और, दस-बीस दिन रह जाए तो पागलखाने में जाने की तैयारी हो जाती है।

प्रकृति का नियम है—चचलता करो तो साथ में विश्राम भी करो। प्रवृत्ति करो तो नींद भी लो। नींद या विश्राम का विषय प्रवृत्ति के साथ जुडा हुआ है। कायोत्सर्ग कराया जाता है या कायिक अनुशासन की बात आती है तो पांच मिनट के प्रयोग में भी बडी कठिनाई आती है। बडा कठिन लगता है। यदि हम 24 घटे में 18 घटे या 16 घटे शरीर को चंचल बनाए रखें तो 5-7 घटा नींद में उसे थोडा स्थिर बना दें। पर, नींद में भी पूरी स्थिरता कहा होती है ? अगर 24 घटे में आधा घटा भी स्थिर होने का अभ्यास करें तो एक सतुलन बन जाएगा। कायिक चचलता जितनी थी, उसमें आधा घटा स्थिरता आई तो आप निश्चित मानें कि हिसा की वृत्ति में परिवर्तन आना शुरू हो जाएगा।

59

अहिंसा का प्रशिक्षण

हमने सुना है—कुछ देशों में आतकवाद का भी प्रशिक्षण दिया जाता है। मन में एक विकल्प उठता है कि हिसा के लिए व्यक्ति को इतना ट्रेंड किया जा रहा है, प्रशिक्षित किया जा रहा है तो क्या अहिसा के लिए ट्रेनिग की आवश्यकता ही नहीं है ? ऐसा लगता है, नहीं है। अहिसा को हमने बिलकुल परित्यक्ता बना दिया है।

पौराणिक कहानियों में कहा जाता हे कि शकर प्रलय करते हैं। अणुबम तो महाशकर बन गया, जिसने इतना बडा प्रलय कर डाला। जो अहिसा में विश्वास रखने वाले थे, उन लोगों ने विश्व शाति का अभियान शुरू किया। शाति के लिए प्रयत्न, नि शस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न, युद्धवर्जना के लिए प्रयत्न किए, किन्तु शस्त्रो का निर्माण ओर अधिक बढ गया, वेसे शस्त्रों का निर्माण जो महाप्रलयकारी हैं—केवल अणुअस्त्र ही नहीं, उससे भी भयकर अस्त्रों का निर्माण शुरू हो गया। स्टार-वार की कल्पना सामने आ गई, जो वहुत ज्यादा घातक हे। नक्षत्रीय युद्ध, आकाशीय युद्ध—इनकी भी कल्पना सामने आ गई। विकास होता गया अस्त्रो के निर्माण का। एक ओर अस्त्रों के निर्माण की चर्चा बहुत तेजी पर है तो दूसरी ओर अहिसा की चर्चा भी बहुत तेजी पर है। इस स्थिति में जो लोग अहिसा में आस्था रखते हें, उनके सामने यह प्रश्नचिन्ह है कि क्या वे अहिसा की चर्चा ही करें ? केवल बात ही करें ? अहिसा का कोरा उपदेश ही दें या इससे आगे भी अपना कदम बढाए ? मुझे लगता है कि प्रयत्न गहरा नहीं हो रहा है।

एक सन्यासी के सामने भक्त बेठा था। वह बडा विचित्र भक्त था। आज एक देवता को मानता, कल दूसरे को मानता और परसो तीसरे को मानता। रोज नए देवता को मानता। हमारे धार्मिक जगत में देवताओ की भी कमी नहीं है और मानने वालो की भी कमी नहीं है। वह रोज बदलता रहता पर सफल कहीं नहीं हुआ। एक दिन उसने पूछा—सन्यासीजी। मैं इतनी भक्ति करता हूँ और रोज देवताओ की मनौती मानता हूँ, पर सफलता कभी नहीं मिली। इसका कारण क्या है, आप बतलाए ? सन्यासी ने उत्तर नहीं दिया। बातचीत हो रही थी। इतने में ही एक दूसरा भक्त आ गया और आकर बोला कि पहले मेरी सुनें। मुझे जल्दी खेत में जाना है। इनके कोई काम है नहीं, बडे लोग हैं, पर मैं तो किसान हूँ। पहले आप मेरी बात का उत्तर दें। सन्यासी ने कहा—क्या बात है ? उसने कहा—मैंने दस दिन पहले खेत में एक कुआ खोदा, पानी नहीं निकला, उसके पास ही दूसरा खोदा तो भी पानी नहीं निकला, तीसरा खोदा तो भी पानी नहीं निकला। दस दिन हो गए। खोदता चला जा रहा हूँ, पानी नहीं निकल रहा है ?

सन्यासी ने कहा—भले आदमी! इतने गड्ढे क्यों खोदे? एक ही खोदते और गहराते चले जाते तो पानी अपने आप निकल आता। छोटे-छोटे चाहे 100 कुए खोदो, पानी निकलेगा नहीं। गहरा खोदने पर एक कुआ भी पानी दे देगा और सौ छोटे-छोटे गड्ढे खोदने पर पानी की एक बूद भी प्राप्त नहीं होगी। उसने सुना। वह बोला—मैं जा रहा हूँ, मेरा समाधान हो गया। उसका ही समाधान नहीं हुआ, पहले वाले का भी समाधान हो गया।

आस्था को बदलो मत। रोज नए तेवर मत लाओ। आस्था को इतना गहरा बनाओ कि अपने आप कुए में पानी निकल आए। मुझे लगता है अहिसा में हमारी आस्था तो है पर उस आस्था में गहराई नहीं है। कहीं कोई थोडी-सी घटना होती है और हिसा भडक उठती है। वह सफल हो जाती है। अहिसा में विश्वास रखने वाले भी कह देते हैं कि आखिर अहिसा से हुआ क्या? हिसा हुई, सामना हुआ, बदला लिया गया और बात समाप्त हो गई। हिसा सफल हो गई। अहिसा सफल नहीं होती क्योकि अहिसा में कोई आस्था नहीं है। इसका कारण है—अधिकाश आदमी केवल अहिसा का मुखौटा पहने हुए हैं, पर अहिसा में आस्था रखने वाले कम हैं। आस्था जगाने वाला अहिंसा का प्रशिक्षण नहीं है।

हिसा के लिए हमारा मस्तिष्क बहुत प्रशिक्षित है। इस आधार पर यह मान लिया गया कि हिसा समस्या का समाधान है। अहिसा समस्या का समाधान है, इसमें हमारा विश्वास नहीं है। आज की भाषा है—सरकार जनता की बात तब तक नहीं सुनेगी, जब तक कि जनता हिसा पर उतारू न हो जाए और जनता भी तब तक सरकार की बात नहीं सुनेगी जब तक कि पुलिस की गोली न चल जाए। एक हिसा की बात समझती है और दूसरी गोली की बात समझती है। इतना गहरा विश्वास पैदा हो गया कि हिसा के बिना कोई काम बन ही नहीं सकता। इस स्थिति में अहिसा की बात करना, केवल उपदेश देना बहुत सार्थक नहीं लगता।

अभी जो मैं चर्चा कर रहा हूँ वह जीवन-यात्रा की हिसा और अहिसा की चर्चा नहीं कर रहा हूँ। जीवनयात्रा में खाने में हिसा होती है। व्यापार में हिसा होती है, खेती में हिसा होती है। उनकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ। उस हिसा की चर्चा कर रहा हूँ जो हिसा समाज के लिए बहुत उपद्रवकारी और सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने वाली हिसा है, जो समाज को आतकित और भयभीत करने वाली हिसा है। आज वह हिसा काफी मात्रा में चल रही है।

मुझे लगता है—आज हमारे समाज में यह खीझ वाली बात तो बहुत चल रही है किन्तु रीझ वाली बात बहुत कम हो गई है। दोनो पहलू—खीज और रीझ साथ-साथ चलें तो समाज एक सतुलित समाज बनता है। खीझ का प्रतीक है—निषेधात्मक विचार। अपराध, चोरी, डकैती, लूट-खसोट, निषेधात्मक विचार हैं। यह निषेधात्मक पक्ष यानी

खीझ तो बहुत चलती है। किन्तु खीझ का दूसरा पहलू रीझ यानी विधायक विचार बिलकुल जीरो बन गया। यह एक बडी समस्या है। आज रीझ के प्रशिक्षण की जरूरत है।

क्या अहिसा के प्रशिक्षण का कोई रूप हो सकता है ? क्या कोई रीझ वाली बात सामने आ सकती है ? इसके प्रशिक्षण का एक स्वरूप और केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करना अप्रासगिक नहीं होगा कि किस प्रकार हम इन निषेधक भावो को दिमाग से निकाल सके और किस प्रकार विधायक भावो को बिठा सके, जमा सके। इसकी क्रियान्विति के लिए एक पद्धति की, एक प्रक्रिया की और प्रकिया के एक अग की चर्चा मैं करना चाहूगा। कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठ जाए और निर्विचार अवस्था का अभ्यास करें। मस्तिष्क को एक बार विचारों से खाली कर दें, शून्य कर दें। वह निर्विचार और निर्विकल्प बन जाए। मस्तिष्क में कोई विचार नहीं और कोई विकल्प नहीं। निर्विकल्प होने का मतलब है कालातीत हो जाना। न कोई अतीत की स्मृति, न कोई भविष्य की कल्पना और न कोई वर्तमान का चिन्तन। तीनो कालो से मुक्त।

काल एक बधन हे। आदमी जकडा हुआ है अतीत से। अतीत उसके पीछे भाग रहा है। आदमी अतीत से डरा हुआ हे। वह भय से छुटकारा पाने के लिए तेज दौड रहा है। स्वय के पदचाप ही उसे डरा रहे हैं। वह और अधिक तेजी से दोडता है। वह ठहरना नहीं जानता। न ठहरना, न रुकना—यह सबसे बडी समस्या है। भविष्य की कल्पना ने भी आदमी को जकड रखा है, बाध रखा है। वर्तमान के चिन्तन ने भी उसके चारों ओर बधन बिछा रखे हें। निर्विकल्प अवस्था में आदमी काल की पकड से मुक्त हो जाता है। वह कालातीत और देशातीत अवस्था में पहुच जाता है।

निर्विकल्प अवस्था में व्यक्तित्व का भी भान नहीं रहता। यह भी पता नहीं रहता कि में कौन हूँ। जब विचार ही नहीं तो फिर पता कैसे रहे। विचार से पहचान बनाई हुई है कि मेरा यह नाम है, यह जाति है। वास्तव में तो है नहीं। बच्चा जन्मा तब न नाम लेकर आया न जाति लेकर आया, इच्छा भी लेकर नहीं आया। ये तो हमने आरोपित कर दिए। कायोत्सर्ग में यह पहचान भी समाप्त हो जाती है। केवल बचता है अस्तित्व और कुछ नहीं बचता। इस निर्विकल्प अवस्था का अभ्यास करना है।

क्या कभी हमने सोचा कि अहिसा के लिए भी क्वालिटी कट्रोल की बात करें ? गुणवत्ता की बात करें ? शायद नहीं सोचा। फिर कैसे अहिसा की बात कर पाएगे ? मैं मुनि हूँ। मैंने अहिसा व्रत को स्वीकारा है। मुझे इसमें विश्वास भी है, किन्तु अहिसा की यह कमजोर अवस्था देखता हूँ तो मुझे भी पीडा होती है। मैं बहुत बार साधु-साध्वियो तथा धार्मिक लोगों के बीच यह बात रखता हूँ कि हमने अहिसा के सकल्प को स्वीकारा है, किन्तु उसे आच में पकाने का प्रयत्न अभी नहीं किया है। जब तक कोई चीज आच में पक नहीं जाती तब तक वह सिद्ध नहीं होती। राजस्थानी भाषा में कहा जाता है—चावल सीझ गया। सस्कृत में कहें तो सिद्ध हो गया, सीझ गया। वह सीझता है जब आच हो।

अहिसा को सिद्ध करने के लिए गम्भीर प्रशिक्षण कोर्स की आवश्यकता है। इतना गहरा प्रशिक्षण, जिससे व्यक्ति का मस्तिष्क अहिसा के प्रति सघन आस्थावान और तन्मय बन जाए। कुछ लोग हिन्दुस्तान से विदेशो मे गए। वे विश्वशाति की यात्रा पर गए। जाने से पूर्व कुछ हमारे पास आए। मैंने जाने वालो से एक प्रश्न पूछा- विश्वशाति की यात्रा पर जा रहे हैं। पहले यह तो बताए, जो जाने वाले हैं, उन्होने अहिसा की कोई ट्रेनिग ली है ? न कोई अनुसधान, न कोई प्रयोग और न कोई प्रशिक्षण। सारी सामग्री से शून्य। कहावत तो यह है कि सियार का शिकार करने जाए तो भी तैयारी शेर को मारने जितनी होनी चाहिए। बडा अजीब है हमारा अहिसा का जगत कि शेर को मारने जाता है और सामग्री सियार को मारने की भी नहीं है पास मे। इतना खालीपन है तो अहिसक व्यक्तित्व का निर्माण कैसे हो सकेगा ?

मै सोचता हूँ इस दिशा मे एक नई विचार-क्राति की जरूरत है। आज अहिसक व्यक्तित्त्व निर्माण की बहुत बडी आवश्यकता है और उस आवश्यकता को सारा ससार अनुभव कर रहा है। उसके लिए एक पद्धति की जरूरत है। प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग उसकी पूर्ति कर सकता है। इससे सभव है निर्विचार ध्यान का विकास, विधायक भावों का विकास, निषेधात्मक भावो को दिमाग से निकालना। प्रशिक्षण का यह प्रयोग चले तो मस्तिष्क काफी प्रशिक्षित हो सकता है। अगर इस दिशा में कोई प्रयत्न होता है तो सारे ससार के लिए यह बहुत कल्याणकारी प्रयत्न होगा।

60

अहिंसक समाज की रचना

आज बहुत लोग अहिसक समाज रचना की चर्चा करते हैं, क्योकि वर्तमान की समाज रचना बहुत हिसापूर्ण है, स्वस्थ नहीं है। यह कैसे सभव हो सकती है? आज की सबसे बड़ी समस्या है सत्ता का केन्द्रीयकरण और अर्थ का केन्द्रीयकरण। जहा सत्ता केन्द्रीकृत होती हैं, सपदा केन्द्रीकृत होती है वहा अहिसक समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। जहा कुछ हाथो में सत्ता केन्द्रित है और कुछ हाथो में सारा धन केन्द्रित है, वहा अहिसक समाज की बात सोच ही नहीं सकते। बिना विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था और विकेन्द्रित सत्ता के अहिसा की दिशा में हमारा प्रस्थान नहीं हो सकता। आदमी में इतनी मूर्च्छा है कि एक बार चिपक गया तो फिर उसे छोडना नहीं चाहता। कुर्सी पर बैठ गया तो फिर उसे छोडना नहीं चाहता। व्यक्ति न सत्ता को छोडना चाहता है और न धन को छोडना चाहता है। सब अपने हाथ में जमा करके रखना चाहता है।

भगवान महावीर ने तीन प्रकार के लोग बतलाए। पहली श्रेणी के लोग ऐसे होते हैं कि इच्छा भी महान, परिग्रह भी महान् और हिसा भी महान्। दूसरी श्रेणी के लोग होते हैं कि इच्छा अल्प, परिग्रह अल्प और हिसा भी अल्प। तीसरी श्रेणी के लोग होते हैं कि इच्छा भी समाप्त और परिग्रह भी समाप्त। यानी अनिच्छा और अपरिग्रह। आज पहली श्रेणी के लोग ज्यादा हैं। इच्छा भी महान् और परिग्रह भी महान्। यह केन्द्रित *अर्थ-व्यवस्था* का स्वरूप है। विकेन्द्रित *अर्थ-व्यवस्था* का स्वरूप है कि *अल्प-इच्छा* यानी परिग्रह कम और हिसा भी कम। कोई भी समाज का व्यक्ति इस श्रेणी में रहना पसद नहीं करता। सब महत्त्वाकाक्षी बन गए, धन और सत्ता की ओर दौड़ रहे हैं। इस स्थिति में न तो अहिसक समाज रचना की कल्पना की जा सकती है और न अभय के वातावरण की बात सोची जा सकती है। हर व्यक्ति चाहता है—समाज में अभय का वातावरण रहे, आतक न रहे, भय न रहे। सभी अपने आप में बिलकुल भयमुक्त और आतक मुक्त रहें, अपने आपको स्वस्थ अनुभव करें। किन्तु, यह सोच सभव नहीं बन सकती। क्योकि जो अभय का वातावरण चाहते हैं, वे सत्ता पर कब्जा करने को तैयार हैं। जब यह विरोधी बात चल रही है तो कैसे सभव होगा?

ऐसा लगता है कि समाज की प्रकृति या मानव की प्रकृति मूर्च्छा की प्रकृति बनी हुई है। वह उसे तोडना नहीं चाहता और अभय तथा अहिसा का वातावरण भी चाहता है, विकास भी चाहता है। यह दोहरी समस्या है। बन्दर ने सकरे मुंह वाले चने के बर्तन में

हाथ डाला, मुट्ठी में चने लिए और मुट्ठी को बाहर निकालने का प्रयत्न किया। बद मुट्ठी उस सकरे मुह से बाहर नहीं निकल पाई। वह फस गया। न तो वह चने को छोड सकता है और न हाथ को बाहर निकाल सकता है। इतने में बदर को पकडने वाले आते हैं और उसे पकड लेते हैं। ऐसा भी हो रहा है कि आदमी मुट्ठी बाधे हुए है। वह न चने का लोभ छोड रहा है और न हाथ बाहर निकल रहा है। वह इस सत्ता और भय के चक्र में फस जाता है। बडी अजीब-सी स्थिति है। जब तक यह चने का लोभ नहीं छूटेगा और मुट्ठी नहीं खुलेगी तब तक हाथ बर्तन में से नहीं निकलेगा। भय का वातावरण बराबर बना रहेगा।

हमें आज यदि सच्चाई को समझना है और असच्चाई पर प्रहार करना है, असत्य पर प्रहार करना है तो सबसे पहले प्रयोगावस्था में जाना होगा। जब तक हमारा जीवन प्रायोगिक नहीं बनेगा तब तक कुछ भी सभव नहीं। प्रयोग कहा से शुरू करें? सबसे पहले अपने आप से प्रयोग शुरू करें और सबसे पहला प्रयोग कायोत्सर्ग का करें। प्रेक्षाध्यान का सारा विकास कायोत्सर्ग के आधार पर हुआ है। चाहे चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा हो, चाहे शरीर प्रेक्षा और चाहे कोई भी प्रेक्षा हो, सबका आधार है कायोत्सर्ग। जब तक आदमी काया को छोडना नहीं जानता, काया की प्रवृत्ति को छोडना नहीं जानता, काया को स्थिर करना नहीं जानता, काया को शिथिल करना नहीं जानता, तब तक शारीरिक तनाव बना रहता है। जब तक यह शारीरिक तनाव बना रहता है तब तक अभय और अहिसा की बात नहीं सोची जा सकती। एक व्यक्ति प्रतिदिन बीस मिनट कायोत्सर्ग करता है और कायोत्सर्ग में पदार्थ से अपने अस्तित्व की भिन्नता का अनुभव करता है तो वह व्यक्ति निश्चय ही अभय और अहिसा में आगे बढ जाएगा।

हम पहले अपने से शुरू करे और फिर दूसरा प्रयोग अपने परिवार में करे। जहा परिवार है, पाच-दस आदमी साथ मे रहते हैं, वहा हिसा के प्रसग आने स्वाभाविक हैं। दो आदमी हुए और हिसा का प्रसग आ जाता है। दो होने का मतलब ही है हिसा का अवसर। विचार भेद, रुचि का भेद और चिन्तन का भेद होने पर हिसा के प्रसग आ सकते हैं। पहले स्वय पर प्रयोग करें। यह प्रयोग सफल हो जाता है तो फिर प्रयोग आगे बढे पडोसियों में। पडोसियो के साथ अहिसा का प्रयोग करें। अहिसा को जीवन में व्यापक बनाए। फिर राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र की बात आती है। हम लोग बड़े विचित्र हैं। न अपने प्रति अहिसा का प्रयोग और न अपने परिवार के प्रति अहिसा का प्रयोग और न गाव में अहिसा का प्रयोग, सीधी ही विश्वशाति और अन्तर्राष्ट्रीय अहिसा की बात करते हैं।

छोटे काम के प्रति हमारा भरोसा ही नहीं है। बहुत बडा काम करना चाहते हैं। ऐसा कभी हुआ नहीं और कभी होगा नहीं। जो लोग ऐसा करते हैं, छोटे क्षेत्र में अहिसा का प्रयोग किए बिना बडी-बडी बात करते हैं और सीधी विश्वशाति की बात करते हें, वे कभी अपने मिशन में सफल नहीं हो सकते।

हम अहिसक समाज रचना की बात करते हैं, स्वस्थ समाज रचना की बात करते हैं। हम वसा समाज चाहते हैं जिसमें शाति, स्वस्थता, अभय हो, हर आदमी को आश्वासन, हर आदमी को अपने अधिकारो का प्रयोग करने का अवसर हो, सारी बातें चाहते हैं समाज में तो हमें मूल सच्चाई को पकडना होगा कि अपने स्वार्थो को सीमित किए बिना, अपनी मूर्च्छा को सीमित किए बिना सारी आकाक्षाए मात्र एक दिवास्वप्न बनेंगी, सत्य कभी नहीं बन पाएगी। यदि आकाक्षाओ को कृतार्थ करना हे, क्रियान्वित करना ह तो हमें सत्य को पकडना होगा। हम कसे मूर्च्छा को कम कर सके, मूर्च्छा के चक्र को कैसे भेद सके, तोड सके, इस सत्य को पकडना ह। यदि इस सच्चाई को पकड लिया तो बहुत सारी समस्याओ, दु खो आर आपदाओ को निरस्त करने का मार्ग ढूढ लिया। अपने जीवन को ऐसा पवित्र आर वातानुकूलित बना दिया कि बाहर जो आधी चल रही ह उसका आप पर कोई प्रभाव नहीं होगा। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग अपने आपको वातानुकूलित बनाने का प्रयोग ह आर इस प्रयोग में जो व्यक्ति श्रद्धा के साथ आता ह, तन्मयता के साथ आता ह, वह निश्चित ही अपने आपको सतुलित बना लेता हे ओर वह परिस्थिति मे अप्रभावित रहकर एक अहिसक समाज रचना में अपना योग दे सकता ह, उसे आगे बढा सकता ह।

हम सामाजिक जीवन जी रहे हैं। समाज का एक घटक है–व्यक्ति। जसा व्यक्ति होता ह वसा समाज होता ह। समाज आर व्यक्ति को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। मूल प्रश्न ह व्यक्ति का। सामाजिक जीवन की समस्या ह–व्यक्ति की विभिन्नता। यदि सब एक प्रकार के होते तो एक-सा चितन, एक-सा जीवन, एक-सा रहन-सहन, एक-सी जीवन प्रणाली, एक-सी राजनीतिक प्रणाली आर एक ही धार्मिक प्रणाली होती, पर इन सबमें विभिन्नता ह। प्रत्येक व्यक्ति पृथक् मान्यताए रखता हे। जीवन की प्रणालिया भिन्न-भिन्न हैं। सबका दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न हे। इसलिए जहा मतभेद होता ह, वहा मनभेद भी आ टपकता ह। दो प्रकार की ग्रन्थिया हैं–एक मतभेद की ग्रथि ओर दूसरी मनभेद की ग्रन्थि। इन दोनों ग्रथियों से समाज सत्रस्त हे।

जातीयता ओर साम्प्रदायिकता दु ख का एक कारण हे। उससे अनेक मनोवेज्ञानिक समस्याए पदा हो जाती हैं। मनोविज्ञान म सामूहिक तनाव की बडी चर्चा हे। समाज के द्वारा, समूह के द्वारा जो तनाव पेदा किया जाता हे उसमें राजनीतिक कारण भी हैं, समाज व्यवस्था भी एक कारण हे, आर्थिक व्यवस्था भी एक कारण है ओर वेज्ञानिक कारण भी हें। थोडा-सा मतभेद होता हे, घृणा पेदा हो जाती हे, द्वेष पेदा हो जाता हे। ये मनोवेज्ञानिक कारण सबसे अधिक भयकर होते हैं।

दर्शन-शास्त्र में विरोध के तीन कारण बतलाए गए हैं–प्रतिबध्य-प्रतिबधक, वध्य-वधक ओर सहानवस्थान।

•

एक विरोध है—प्रतिबध्य-प्रतिबधक का। प्रतिबधक शक्ति आती है और प्रतिबध्य में रुकावट पैदा हो जाती है। दोनो में विरोध है। आग का काम है जलाना किन्तु, प्रतिबधक शक्ति पैदा हो गई तो वह जला नहीं पाएगी।

दूसरा विरोध है—वध्य-वधक का। चूहे और बिल्ली में एक शाश्वत प्रकृतिगत विरोध है। यह वध्य-वधक भाव का विरोध है।

तीसरा विरोध है—सहानवस्थान का। पानी और आग में सहानवस्थान विरोध है। दोनो एक साथ नहीं रह सकते।

विरोध समाज की प्रकृति है, व्यक्ति की प्रकृति है। विरोध के वातावरण में व्यक्ति पलता चला आ रहा है। इन विरोधो के कारण आज काफी जटिलताए पैदा हो रही हैं। सारा ससार अनेक समस्याओ का सामना कर रहा है। क्या इन विरोधों को मिटाया जा सकता है? क्या समस्या का कोई समाधान है? हमारे सामने यह एक प्रश्न है। अनेकात में इस विरोध के परिहार का मार्ग उपलब्ध है। उसका एक सूत्र है—सर्वथा विरोध और सर्वथा अविरोध जैसा दुनिया में कुछ भी नहीं है। सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद जैसा दुनिया में कुछ भी नहीं है। जो भिन्न है वह अभिन्न भी है और जो अभिन्न है, वह भिन्न भी है। जो विरुद्ध है, वह अविरुद्ध भी है और जो अविरुद्ध है, वह विरुद्ध भी है। ऐसी लक्ष्मण-रेखा नहीं खींची जा सकती है कि मैं इससे सर्वथा भिन्न हूँ या इससे सर्वथा अभिन्न हूँ। इस आधार पर अनेकात का एक सिद्धात फलित हुआ—सह-अस्तित्त्व। प्राचीन भाषा है—सहानवस्थान। वर्तमान में कहा जा सकता है—एक साथ रहना और एक साथ जीना सह-अस्तित्व है। यह कैसे सभव है? अनेकात की व्याख्या की जाए तो निष्कर्ष होगा—सह-अस्तित्व का सिद्धात अनेकात की मूल प्रकृति है।

61

नि:शस्त्रीकरण

समाज सदा से इस वात की अपेक्षा रखता हे कि नि शस्त्रीकरण हो। आज का यह प्रवल स्वर ह कि नि शस्त्रीकरण हो। अनेक राष्ट्रों ने मिलकर प्रयत्न किया कि नि शस्त्रीकरण हो। अनेक सधिया हुई। अनेक प्रयत्न हुए। पर अभी काम पूरा हो नहीं सका। किन्तु, इस सच्चाई को हम अस्वीकार नहीं करेंगे कि मनुष्य सदा नि.शस्त्रीकरण चाहता हे। शस्त्रीकरण नहीं चाहता, शस्त्रों को नहीं चाहता, डराने वाले साधनों को, हथियारों को नहीं चाहता। वह चाहता ह कि कोई डराने वाला व्यक्ति भी न हो ओर डराने वाले साधन भी न हों। पूरा अभय का वातावरण हो। हर व्यक्ति भय-मुक्त होना चाहता हे, किन्तु शस्त्रों की दुनिया में कोई भय-मुक्त नहीं होता। हो भी नहीं सकता। केसे हो ?

नि शस्त्रीकरण की जरूरत ह। किसलिए ? केवल राष्ट्र के लिए नहीं, केवल समाज के लिए नहीं, पर सबसे पहले सुखी परिवार के लिए। परिवार में आदमी सुखी रह सके। आपके मन में प्रश्न खडा होगा कि परिवार में कोन-से शस्त्रों का प्रयोग होता हे ? कोई शस्त्र का प्रयोग नहीं करता। वहुत सारे परिवार तो शस्त्र रखते ही नहीं ओर रखते हैं तो अपनी आत्म-रक्षा के लिए रखते हें। अपने पारिवारिकजनों के प्रति शस्त्र का प्रयोग करने के लिए शस्त्र नहीं रखते।

यहा में आपकी वात से सहमत नहीं हो सकता। शस्त्र के वारे में हम गहरे में जाएगे तो पता चलेगा कि वास्तव में शस्त्र क्या हे ? हमने व्यवहार के धरातल पर बदूक, तलवार, तोपें ओर प्रक्षेपास्त्र आदि आधुनिक शस्त्रो को शस्त्र मान रखा हे, किन्तु अध्यात्म की भापा में शस्त्र दूसरा ही हे।

अध्यात्म की भापा में शस्त्रों का वर्गीकरण मिलता हे। स्थानाग सूत्र में दस प्रकार के शस्त्रों का वर्गीकरण किया हे। उनमें नमक भी एक शस्त्र हे, अग्नि एक शस्त्र है, जहर एक शस्त्र हे। शस्त्र का मतलव हे—मार डालने वाला। जो मार डालता हे वह सब शस्त्र हे। क्या कोई दुनिया में ऐसी चीज हे जो आदमी को न मारे ? प्राणी को न मारे ? एक भी वस्तु का नाम आप वताए कि जो आदमी को नहीं मारती। खोजने पर भी नहीं मिलेगी। मारे या न मारे यह अलग वात हे किन्तु, न मार सके, ऐसी कोई भी चीज नहीं मिलेगी। एक चींटी भी आदमी को मार डालती हे। एक छोटा-सा रज-कण आदमी को मार डालता है। एक वायरस, एक जर्म, एक कीटाणु आदमी को मार डालता है। जितने पदार्थ

हैं वे आदमी को मार डालते हैं। बहुत बार तो जिन पदार्थों को हम अपनी रक्षा का साधन समझते हैं वे साधन ही आदमी को मार डालते हैं, आत्म-घाती बन जाते हैं।

नमक भी शस्त्र है। नमक इतना तेज शस्त्र है कि वह सब कुछ गला देता है। कण-कण को गला देता है। बहुत नमक खाने वाले भी यह अनुभव करते हैं कि नमक कितना तेज शस्त्र है। ज्यादा नमक खाने वाले का गुर्दा बता देता है कि नमक कितना तेज शस्त्र है। ज्यादा नमक खाने वाले का बी-पी बता देता है कि नमक कितना बडा मार डालने वाला शस्त्र है। चीनी भी शस्त्र है। यह मीठा जहर है। चिकनाई भी शस्त्र है। घी और तेल भी शस्त्र है। थोडी-सी हार्ट ट्रबल होती है तो डाक्टर कहता है, पहले चिकनाई बद करो। यदि अमृत हो तो बद किसलिए ? पुराने लोगों ने घी को रत्न माना है। घी एक रत्न है, पर आज की भाषा दूसरी है, घी अनावश्यक है। यह निश्चित है कि घी भी शस्त्र बनता है, तेल भी शस्त्र है। पूरे चिकने पदार्थ शस्त्र बन जाते हैं।

यह सच्चाई है कि अकाल-मृत्यु में किसी तलवार, बदूक या तोप का हाथ नहीं होता, किन्तु नमक, चीनी, घी या ज्यादा गरिष्ठ मिठाइयो का हाथ होता है। आदमी सौ वर्ष जीना चाहता है या सौ वर्ष जीता है, यदि इनका प्रयोग खूब चलेगा तो सभव है पचास वर्ष भी न जिए। वे शस्त्र तो हैं ही, मारते भी हैं पर मारते इतने मिठास के साथ हैं कि पता ही नहीं चलता। मारने-मारने में भी अन्तर होता है। एक मारता है कडवाहट के साथ और एक मारता है मिठास के साथ, मधुरता और प्रियता के साथ। प्रत्येक पदार्थ दुनिया में शस्त्र बना हुआ है, अशस्त्र कुछ भी नहीं है। सारे पदार्थ शस्त्र हैं।

लोगो में शस्त्र की एक प्रकार की अवधारणा है। दूसरे प्रकार की और गहरी अवधारणा है अध्यात्म की। हमारा शरीर, वाणी और मन—ये दुष्प्रयुक्त होते हैं तो शस्त्र हैं। दुष्प्रयुक्त मन एक शस्त्र है, दुष्प्रयुक्त वाणी एक शस्त्र है और दुष्प्रयुक्त शरीर एक शस्त्र है। दूसरा शस्त्र है—भाव, हमारे मन के भाव, लेश्याओ के भाव। पूरा भाव-तत्र एक शस्त्र है। तीसरी बात है अविरति। आकाक्षा एक शस्त्र है।

शस्त्र दो श्रेणियो में बट जाते हैं—पदार्थ-शस्त्र और मनुष्य की अतर्वृत्तियो के शस्त्र। शरीर हमारा शस्त्र है। क्या परिवार में शरीर नहीं है ? शरीर तो रहता है। क्या परिवार में वाणी नहीं है ? वाणी तो रहती ही है। क्या मन नहीं है ? ये सब शस्त्र हैं। अभी आपको सदेह हो सकता है शस्त्र होने में। जितनी लडाइया बदूकों, तलवारो और तोपों से नहीं लडी जातीं, उतनी लडाइया हमारे मन, वचन और शरीर से लडी जाती हैं। कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो दिन मे एक-दो लडाई नहीं लड लेता हो ? स्वय लड लेते हैं और कई लोग तो लडाई को उधार लेना भी पसद करते हैं। जहा भी पता चले लडाई की सभावना है, शायद तीसरे गाव भी वे पहुच जाते हैं।

कोन नहीं लडता ? एक अगुली का इशारा होता हे, लडाई शुरू हो जाती है। जबान ऐसी निकलती हे, लडाई शुरू हो जाती हे। मन मे चितन ऐसा आता है, लडाई शुरू हो जाती ह। राग ओर द्वेप से भरा हुआ मन का चितन सबसे वडा शस्त्र है। वाणी बहुत बडा शस्त्र है और हमारा शरीर वहुत वडा शस्त्र ह।

साधुओं की एक जमात आई। भोजन की व्यवस्था गाव वालो को करनी थी। पुराने जमाने में ऐसा चलता था। भोजन की व्यवस्था के लिए कहा गया। गाव वालो ने सोचा– सन्यासी आ गए हें। व्यवस्था करनी ह, तयारी करनी शुरू कर दी। तैयारी करने में थोडी देरी हो गई। सन्यासी भूखे वठे-वठे तग हो गए। आए गुरु के पास, आकर वोले– 'क्या करें ? अभी भोजन नहीं आया। लगता ह कि गाव वाले व्यवस्था करना नहीं चाहते। हम चाहते हें कि उनको भी सवक सिखाए। जाए आर उनके छप्पर तोड डालें।' आ गए, छप्पर तोडने लगे। गाव के लोगां ने कहा–यह क्या कर रहे हो ? सन्यासी वोले–'तुम लोगों ने हमारे भोजन की व्यवस्था नहीं की ?' वे वोले–'महाराज ! व्यवस्था कर रहे हें। व्यवस्था करने में थोडा समय लगता हे, वात थोडे ही करनी ह ? इतनी जल्दी क्यों करते हें आप ? क्या आपने गुरु से पृछ लिया, जो आप ऐसा कर रहे हें ?'

सन्यासी वोले–'हॉ, पृछ लिया।'
वे वोले–'क्या गुरु ने आपको आदेश दे दिया ?'
सन्यासी वोले–'हॉ, दे दिया।'
वे वोले–'क्या कहा ?'

सन्यासी वोले–'कहा कुछ भी नहीं।' हमने जाकर गुरु से कहा–'हम छप्पर तोडते हें' तो गुरु ने कहा–'हूॅं।' वस, अगुलिया हिल गईं। सिर हिल गया, मोन हें, वैसे तो वोलेंगे नहीं। एक अगुली हिलती ह, थोडा-सा सिर हिलता हे, छप्पर टूट जाते हें। क्या शस्त्र नहीं ह शरीर का दुष्प्रयोग, वाणी का दुष्प्रयोग ? वहुत बडा शस्त्र बन जाता है, बनता हे, ओर हे। जितनी लडाइया वाणी के कारण होती हें, वे सव अकारण लडाइया हें। उसके पीछे कोई कारण नहीं होता, किन्तु वचन के कारण लडाई शुरू हो जाती है।

दो लडकिया मिलीं परस्पर रास्ते में। एक ने कहा–आ वहन लडे। लडने की भी मन में आती हे। दूसरी वोली–में क्यो लड़ू, लडे मेरी जूती। मेरी जूती क्यो लडे, लडे तुम्हारी जूती। जूती-जूती रटते-रटते जूतिया निकल गईं ओर दोनो आपस में लड पडीं।

बहुत सारी लडाइया वाणी के कारण होती हैं। हमें बोलने का विवेक नहीं होता, हम नहीं जानते कि हमें किस प्रकार की भापा का प्रयोग करना चाहिए। थोडी-सी बात होती है, तन जाते हें। पिता-पुत्र को कहता है, पर न पिता पूरे वात्सल्य के साथ कहता है और न पुत्र विनय के साथ सुनता हे, क्योंकि वात्सल्य करना भी नहीं जानते और विनय करना भी नहीं जानते।

62

भय से मुक्ति

आज का प्रत्येक आदमी भयभीत है। बडा-से-बडा व्यापारी भी भयमुक्त नहीं है। अध्यापक भी भयमुक्त नहीं है। वह भले ही दूसरो को भय की बात न कहे पर भीतर वह भयाक्रात है कि कब, कैसे विद्यार्थी उसकी पिटाई कर दें? मिनिस्टिर या अन्य शिक्षाधिकारी उस पर झूठे-सच्चे आरोप लगाकर निष्कासित कर दे? सर्वत्र भय व्याप्त है, क्योकि सर्वत्र प्रमाद है, विस्मृतिया हैं, असत्य है। प्रज्ञा सोई पडी है, केवल बुद्धि का जागरण हुआ है। बुद्धि भय को नहीं मिटा सकती। वह भय को सूक्ष्मता से पकड लेती है। बुद्धिमान आदमी भय को दूर से पकड़ लेता है।

आज के वैज्ञानिक भयग्रस्त हैं। आबादी बढ रही है। वह दिन भी आ सकता है जिस दिन आदमी को खाने के लिए अनाज नहीं मिल सकेगा। आबादी की यही रफ्तार रही तो वह दिन भी दूर नहीं है जब आदमी के सारे स्रोत समाप्त हो जाएगे, उस समय विश्व की क्या स्थिति होगी? यह भय वैज्ञानिको को है, औरों को नहीं। वे इसकी कल्पना ही नहीं कर सकते।

बुद्धि जितनी प्रखर, तेज होगी उतना भय बढेगा। बुद्धि का काम भय को मिटाना नहीं है। उसका काम है नए-नए भयो को उत्पन्न करना। अभय आता है प्रज्ञा से। जब प्रज्ञा जागती है, तब आदमी 'तथाता' बन जाता है। 'तथाता' का अर्थ है—वर्तमान में जीना, जो प्राप्त है उसे स्वीकार कर लेना। घटना को घटना के रूप में स्वीकार कर लेना 'तथाता' है। उसके साथ भय को जोडना आवश्यक नहीं है। 'तथाता' आती है प्रज्ञा से। बाह्य-विस्मृति और अन्तर जागरण, यह है 'तथाता।'

काव्य-शास्त्र में रस और भाव-धारा का बहुत विशद विवेचन हुआ है। तीन भावधाराएं हैं—स्थायीभाव, सात्विकभाव और सचारीभाव। किस मुद्रा में कौन से भाव जन्म लेते हैं? व्यक्ति किस रूप में प्रकट होता है? यह सारा ज्ञात हो जाता है। शृगार-रस की एक मुद्रा होती है, करुण रस की दूसरी मुद्रा होती है, बीभत्स-रस की तीसरी मुद्रा होती है, रौद्र-रस की चौथी मुद्रा होती है, शात-रस की पाचवीं मुद्रा होती है। अलग-अलग मुद्राए होती हैं। प्रत्येक भाव और प्रत्येक रस की भिन्न-भिन्न मुद्रा होती है। रसानुभूति, भावनानुभूति और मुद्रा, सब जुड़े हुए हैं। हमारी मुद्रा का सम्बन्ध भाव से जुडा हुआ है। भय की भावधारा होती है तो एक प्रकार की मुद्रा बनती है। डरा हुआ आदमी सिकुड जाता है। चेहरा सिकुडता भी है और फैलता भी है। हमारा शरीर सिकुडता भी है और फैलता भी है। भय से सिकुडता है और हर्ष से फैल जाता है। हर्षोत्फुल्ल मुख पुष्प

की भाति खिल जाता है, भयभीत मुख बिलकुल सिकुड जाता है। ऐसा लगता है कि बिलकुल पतला-दुबला हो गया हे। भय की मुद्रा होती है, उस समय बाहर आकृति में जो परिवर्तन होते हैं वे हमारे सामने स्पष्ट होते हैं। अन्तर के अवयवों में भी परिवर्तन होते हें। हृदय की धडकन तेज हो जाती है, रक्तचाप बढ जाता है, गला सूख जाता है, लार टपकाने वाली ग्रथिया निष्क्रिय बन जाती हें, मुख सूखने लग जाता है, आमाशय और आतें सिकुड जाती हें। जो आदमी रोज डरा-डरा रहता हे, उसकी भूख भी कम हो जाती हे। त्वचा की सवाहिता में अतर आ जाता है, त्वचा सूक्ष्मग्राही बन जाती है।

लक्ष्य की निश्चितता से जैसे आत्म-बल बढता है, वैसे निर्भयता भी बढती है। निर्भयता अहिसा का प्राण हे। भय से कायरता आती हे। कायरता से मानसिक कमजोरी ओर उससे हिसा की वृत्ति वढती है। अहिसा के मार्ग में सिर्फ अधेरे का डर ही बाधक नहीं वनता, ओर भी बाधक वनते हैं। मौत का डर, कष्ट का डर, अनिष्ट का डर, अलाभ का डर, जाने-अनजाने अनेक डर सताने लग जाते हें, तब अहिसा से डिगने का रास्ता वनता है। पर निश्चित लक्ष्य वाला व्यक्ति नहीं डिगता। वह जानता है—ऐश्वर्य जाए तो चला जाए, में उसके पीछे नहीं हूँ। वह सहज भाव से मेरे पीछे चला आ रहा है। यही बात मोत के लिए तथा ओरों के लिए हे। मे सच वोलूगा। अपने प्रति व औरो के प्रति भी सच रहूगा, फिर चाहे कुछ भी क्यो न सहना पडे। अहिसक को धमकिया और बन्दर-घुडकिया भी सहनी पडती हैं। वह अपनी जागृत वृत्ति के द्वारा चलता है, इसलिए नहीं घवराता।

इन सव बातों से भी एक वात और बडी हे, वह है—कल्पना का भय। जब यह भावना वन जाती हे कि अगर में यों चलूगा तो अकेला रह जाऊगा, कोई भी मेरा साथ नहीं देगा, यह अहिसा के मार्ग में काटा हे। अहिसक को अकेलेपन का डर नहीं होना चाहिए। उसका लक्ष्य यही हे, इसलिए वह चलता चले। आखिर एक दिन दुनिया उसे अवश्य समझेगी। महात्मा ईसा का जीवन इसका ज्वलंत प्रमाण है। आचार्य भिक्षु भी इसी कोटि के महापुरुष थे। दूसरों के आक्षेप, असहयोग आदि की उपेक्षा कर निर्भीकता से चलने वाला ही अहिसा के पथ पर आगे बढ सकता है।

63

मानसिक स्वास्थ्य

हिसा पहले भी थी, आज भी होती है और भविष्य में भी ऐसा नहीं होगा कि जगत हिसा से बिलकुल मुक्त हो जाए। प्रश्न है–हिसा क्यो होती है ? मनुष्य मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं है, इसलिए हिसा हो रही है। हिसा का कारण है–मनुष्य का मानसिक दृष्टि से स्वस्थ न होना। स्वास्थ्य और अहिसा इस भाषा में एकार्थक बन जाते हैं। स्वास्थ्य का अर्थ है–अहिसा और अहिसा का अर्थ है स्वास्थ्य। स्वास्थ्य को तीन भागों में बाटा जा सकता है–शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य और भावनात्मक स्वास्थ्य।

शारीरिक अस्वास्थ्य हिसा का एक कारण है। जो व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से अस्वस्थ होता है, बीमार होता है, वह हिसा करता है। बहुत गहराई से समीक्षा करें तो निष्कर्ष होगा–जिसे भूख लगती है, वह बीमार है। भूख एक बीमारी है। सस्कृत शब्दकोश में भूख का अर्थ किया गया है–जठराग्नि की पीडा, जठर की अग्नि से होने वाली पीड़ा या बीमारी। साख्यदर्शन ने भी भूख को बीमारी माना है। कुछ बीमारियां कभी-कभी होती है, किन्तु यह प्रतिदिन होने वाली बीमारी है। जो रोज बीमार होता है, बारह महीने ही बीमार रहता है, वह बीमार नहीं कहलाता। व्यक्ति उससे इतना परिचित हो जाता है कि उसे वह बीमारी प्रतीत नहीं होती। कभी-कभार जो वेदना होती है, उसे ही वह बीमारी मानता है। यह एक सच्चाई है कि जो आदमी भूख से पीडित है, वह अस्वस्थ है, बीमार है। उसे मिटाने के लिए वह हिसा करता है। अगर आदमी पूरा स्वस्थ होता तो उसे हिसा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। जिसे भूख नहीं लगती, वह हिसा नहीं करता। जिसे प्यास नहीं लगती, वह हिसा नहीं करता। हिसा करने का उसके सामने कोई प्रयोजन ही नहीं होता। हिसा के कारणो की यह सूक्ष्म मीमासा है जो शरीर की आवश्यकताओं के साथ जुड़ी हुई है।

हिसा का दूसरा कारण है–मानसिक अस्वास्थ्य। हिसा वह व्यक्ति करता है जो मानसिक दृष्टि से बीमार है। यदि जगत का सर्वेक्षण किया जाए तो दुनिया का बहुत बडा भाग मानसिक दृष्टि से बीमार मिलेगा। एक मानसिक रोगी वह होता है, जिसे पागलखाने में भर्ती किया जाता है और एक प्रकार का मानसिक रोगी वह होता है, जिसे पागलखाने में भर्ती नहीं किया जाता है। जो पागलखाने मे भर्ती हो रहे हैं उनका बहुमत नहीं है। अल्पमत के साथ यही व्यवहार होता है। बहुमत उन्हें पागलखाने में भर्ती करा देता है। जो पागलखाने में भर्ती होने के योग्य नहीं माने जा रहे हैं, उसका कारण उनका बहुमत में होना है।

कहा जाता है—एक बार एक नगर में ऐसी हवा चली कि सारे लोग पागल हो गए। पागलपन इतना गहरा गया कि उन्होंने अपने सारे कपड़े उतार डाले, निर्वस्त्र हो गए। केवल दो व्यक्ति बचे—राजा और एक मंत्री। शेष सारे निर्वस्त्र और बेभान। राजा बडी मुसीबत में फंस गया। उसने मंत्री से कहा—चलो, देखें, क्या बात है? किसी तरह समस्या को सुलझाएं। राजा और मंत्री बाजार में आए। दोनों अपनी राजसी पोशाका में थे। उनके आस-पास भीड इकट्ठी हो गई। लोग चिल्लाने लगे—देखो! ये पागल आदमी आए हैं। इन्हें पकड़ो, मारो। सारे लोग राजा और मंत्री को पकड़ने के लिए दौड पड़े। वे उन्हें मारने के लिए कटिबद्ध हो गए। राजा ने मंत्री से कहा—अब क्या करें, कैसे निकलें? मंत्री बोला—राजन्! रक्षित तो इसी में है हम भी कपड़े उतार कर इन जैसे बन जाएं, अन्यथा प्राणों का बचना भी मुश्किल हो जाएगा। इनका पागलपन जानलेवा भी बन सकता है। निरुपाय बने हुए राजा और मंत्री को अन्ततः पागलों जैसा ही बनना पडा। नगर के लोगों ने कहा—अब इनका पागलपन उतरा है।

मानसिक दृष्टि से यह दुनिया बहुत बीमार है। जो व्यक्ति शस्त्रों का निर्माण करता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं है। जो वैज्ञानिक शस्त्रों की खोज कर रहा है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं है। जो राजनेता शस्त्रों का अंबार लगाकर राष्ट्र की सुरक्षा का प्रयत्न करता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं है। यह अस्वस्थता इसलिए है कि मानसिक दृष्टि से सब बीमार हैं, पागल बन गए हैं। एक राष्ट्र बीमार बनता है तो दूसरे राष्ट्र को भी बीमार बनना पड़ता है और वह बन जाता है। यह बीमारी इतनी व्यापक है कि सब बीमार बन गए हैं।

गुरु और शिष्य एक वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे। एक अजनबी उधर से निकला। शिष्य को देखते ही वह उबल पडा। गालियां देने लगा। शिष्य कुछ देर तक शांति से सुनता रहा। अजनबी बोलता ही चला जा रहा था। शिष्य का संतुलन गडबडा गया। वह क्रुद्ध हो गया। उसने भी प्रत्युत्तर में गालियों की बौछार कर दी। गुरु अपना कम्बल उठा कर चल पडा। गुरु के इस व्यवहार से शिष्य का मन और अधिक आहत हुआ। वह बोला—गुरुदेव! बड़ी अजीब बात है। इसने मुझे इतनी गालिया दीं और आप शात भाव से बैठे-बैठे सुनते रहे, जब मैंने गालिया देना शुरू किया, आप कम्बल बाधकर जाने की तैयारी करने लगे, मैं समझ नहीं पाया इसका क्या अर्थ है? यह आपका कैसा व्यवहार है मेरे प्रति?

गुरु ने मुस्कुराते हुए कहा—वत्स! गाली देने वाला क्रोध में होता है। क्रोध दानव होता है। जब तक तुम शात थे तब तक तुम देव थे। मैं तुम्हारे साथ बैठा था। जब तुम गालिया देने लगे, दानव बन गए। दानव के साथ रहना मुझे पसन्द नहीं, इसलिए मैं जा रहा हूँ।

आज सतुलन कहीं नहीं है। यदि एक राष्ट्र सतुलन खो देता है तो दूसरा राष्ट्र भी अपना सतुलन खोए बिना नहीं रह सकता। यदि अमुक राष्ट्र परमाणु बम बनाएगा तो मुझे भी बनाना जरूरी है। एक सतुलन खोए तो दूसरे को भी सतुलन खोना जरूरी है। यह दुनिया का एक सम्यक् व्यवहार हो गया। एक मानसिक दृष्टि से बीमार होता है तो दूसरे को भी मानसिक दृष्टि से बीमार होना जरूरी है। एक व्यक्ति आवेशपूर्ण व्यवहार करे तो दूसरे को भी वैसा करना जरूरी है। इस अवस्था में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शस्त्र का निर्माण, शस्त्र का नियोजन, शस्त्र का व्यापार और शस्त्र का प्रयोग, ये सब मानसिक बीमारी के चिह्न हैं।

प्रश्न होता है—हम मानसिक दृष्टि से किसे स्वस्थ मानें ? मानसिक दृष्टि से स्वस्थ कौन हो सकता है। उसकी परिभाषा क्या है ? महावीर ने कहा—जो धर्म है, वह मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य की व्याख्या है। आधुनिक भाषा में मानसिक एव भावनात्मक स्वास्थ्य और प्राचीन भाषा में धर्म, दोनों में कोई अन्तर नहीं लगता। जितने धर्म के सूत्र हैं, वे मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य के सूत्र हैं।

मानसिक स्वास्थ्य का एक लक्षण है—जो व्यक्ति अपने सुख के लिए दूसरों के दु ख का निमित्त नहीं बनता, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है। स्वय सुखी रहना चाहता है और दूसरे को दु ख देना नहीं चाहता है, वह मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त करता है। दूसरे को सुख देना मानसिक स्वास्थ्य का लक्षण नहीं बनता। जो दु ख नहीं देता, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है। अपने आपको सुखी रखने के लिए यह अनिवार्य है कि व्यक्ति दूसरे को दु.खी न बनाए।

मानसिक स्वास्थ्य का दूसरा लक्षण है—परिस्थितियो के साथ सामजस्य स्थापित करने की क्षमता। जो व्यक्ति परिस्थितियो के साथ सामंजस्य करना जानता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है। इस परिभाषा को जब व्यापक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया जाए तो एक नया प्रकाश उपलब्ध होता है। एक मुनि के लिए बाईस परीषहों का विधान किया गया। सख्या की दृष्टि से बाईस परीषह निर्दिष्ट हैं किंतु ये बाईस-सौ भी हो सकते हैं। परीषह सहने का अर्थ है—परिस्थिति के साथ सामजस्य स्थापित करना। भूख लग गई और खाने को नहीं है, इस अवस्था में आदमी तडपने लग जाता है, त्राहि-त्राहि करने लग जाता है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो परिस्थिति को शात भाव से झेल लेते हैं। एक दिन खाने को नहीं मिला, दो दिन नहीं मिला, चार दिन नहीं मिला फिर भी वे बिलकुल शात एव तटस्थ रहते हैं। जैसी परिस्थिति आती है, उसके साथ सामजस्य स्थापित कर लेते हैं। वे व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होते हैं। जो व्यक्ति त्राहि-त्राहि करने लग जाता है, वह मानसिक दृष्टि से बीमार होता है।

परीषहो को सहने का अर्थ है—कठिनाइयो को झेलने की क्षमता का होना। जो भी नई परिस्थिति आए, उसके साथ सामजस्य स्थापित करने की क्षमता का होना। परीषह

प्रकरण में मुनि के लिए बतलाया गया—सर्दी को सहो, गर्मी को सहो, गाली को सहो, मच्छर काटे तो उसे सहो। निरन्तर सहो, सहते रहो, कष्टों को झेलते चले जाओ। ऐसा लगता है कि कष्ट सहने के सिवाय ओर कोई काम ही नहीं हे एक मुनि के। अनेक लोग कहते हें—जैन धर्म हे ही क्या ? उसमें केवल कष्टो को झेलना हे। उसी का नाम है—जैन धर्म।

ऊपरी ओर सतही दर्शन में लगता हे—समुद्र शख ओर सीपियो से भरा हुआ है, उसमें कोई मूल्यवान संपदा नहीं हे। जब तक सतही दर्शन रहेगा, हमारा दृष्टिकोण भिन्न प्रकार का होगा। जिन लोगों ने अतल गहराइयों में जाकर देखा है, उनसे पूछा जाए कि समुद्र केसा ह ? वह कितना सुन्दर हे ? कितना भव्य हे ? वहा क्या है ? कितनी औषधिया ओर वनस्पतिया हें ? कितने रत्न आर रसायन भरे पडे हें ? समुद्र का एक दूसरा रूप ही सामने आता हे।

जो व्यक्ति सतही तार पर सिद्धातों को देखता हे, उसको बडा अजीब-सा लगता हे। वही व्यक्ति जव उनकी गहराई में चला जाता हे तो सारा दृष्टिकोण बदल जाता है, उसे एक नया सत्य प्राप्त होता ह।

परीपह क्या हे ? यदि मानसिक स्वास्थ्य के सदर्भ में इस प्रश्न पर विमर्श किया जाए तो निष्कर्प होगा—ये सारे परीपह मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण हें। इनके आधार पर मानसिक स्वास्थ्य की व्याख्या की जा सकती हे। प्राय मनोवेज्ञानिको ने स्वस्थ मन की जो परिभाषा की हे, उसमें सवसे ज्यादा महत्त्व दिया हे समज्जन को, 'एडजेस्टमेंट' को। समज्जन करना यानी नई परिस्थिति के साथ सामजस्य स्थापित कर लेना मानसिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण हे। गहराई में जाने पर पता चलता हे कि ये परिस्थितिया सभी के जीवन में आती हें।

64
जीवन विज्ञान

आज जैविक असतुलन हो रहा है। मस्तिष्क का बाया हिस्सा अधिक सक्रिय हो गया और दाया हिस्सा सोया का सोया रह गया। ऐसा हो गया कि आदमी का एक हाथ आकाश को छूने लग गया और एक हाथ बौना ही रह गया। यह असतुलन समस्या पैदा कर रहा है। जीवन विज्ञान का पहला कार्य है—जैविक दृष्टिकोण से जो असतुलन हो रहा है, उसे रोकना। जीवन विज्ञान का दूसरा अर्थ है—जैविक संतुलन की स्थापना करना। जीवन विज्ञान का तीसरा अर्थ है—क्षमता की आस्था का जागरण।

आदमी स्वय की क्षमताओ से अनभिज्ञ है। दर्शन की दृष्टि से कहा गया हे कि मनुष्य में अनन्त ज्ञान होता है, अनन्त बल होता है, अनन्त आनन्द होता है। यह प्राचीन दर्शन की भाषा है, पर आज का विज्ञान भी इसी भाषा में बोलने लग गया है।

अभी कुछ वर्ष पूर्व सुपर लर्निंग की प्रणाली विकसित हुई थी। डॉ लॉपनोव ने इस प्रणाली को जन्म दिया। उसका यह सिद्धान्त है कि हमारे मस्तिष्क में सीखने की अनन्त क्षमता है उसको विकसित किया जा सकता है। उसके प्रयोग किए गये। जो बच्चा पाच-दस शब्द याद करने में हिचकिचाता था, उसको इस प्रणाली से उसने हजारों शब्द याद करा डाले।

विज्ञान भी इसी निष्कर्ष तक पहुचा है कि हमारे मस्तिष्क में अनन्त क्षमताए हैं, परन्तु आदमी उन क्षमताओ का पाच-सात प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है। जो दस प्रतिशत उपयोग करने लग जाता है, वह महान् व्यक्ति बन जाता है। जो उपयोग नहीं कर पाता, उसकी सारी क्षमताए सोयी रह जाती हैं।

जीवन विज्ञान के द्वारा विद्यार्थियो में इस आस्था को जागृत करना है कि हमारे भीतर अनन्त क्षमताए हैं और हम उन्हें सक्रिय कर सकते हैं, उनसे लाभ उठा सकते हैं।

आस्था का निर्माण करना बहुत बड़ी निष्पत्ति है। महान् इतिहासकार टॉयनबी ने लिखा है—आस्था और रोटी, ये दो प्रश्न हैं। आस्थाहीन रोटी और रोटीविहीन आस्था, दोनो हमारे लिए खतरे बन सकते हैं। आज सारा ध्यान रोटी पर केंद्रित हो गया है। आस्था की बात गौण हो गई है। लोग सोचते हैं, आस्था रहे या न रहे, रोटी होनी चाहिए। रोटी आवश्यक है, पर इस तथ्य को विस्मृत नहीं करना चाहिए कि रोटीविहीन आस्था से काम नहीं चलता तो आस्थाहीन रोटी भी आदमी को कभी-कभी खाने लग जाती है, भयकर बन जाती है। दोनों का सतुलन हो। रोटी भी हो और आस्था भी हो।

आस्था को छोडकर आदमी जी नहीं सकता। जब आस्था लडखडा जाती है तब आदमी के घुटने टिक जाते हें। हम प्रत्येक विद्यार्थी में उसकी क्षमता के अनुसार आस्था उत्पन्न करें। उसमें ऐसी आस्था पेदा हो जाए कि उसको लगे कि कोई भी कार्य असभव नहीं हे, सभी कार्य सभव हें। यदि उचित प्रयत्न, दृढ अध्यवसाय ओर उचित साधन-सामग्री का सयोजन ओर सकलन हो तो प्रत्येक कार्य को सम्भव बनाया जा सकता है।

जीवन विज्ञान का चौथा अर्थ हे—परिष्कार। यह परिष्कार तीन आयामो में हो—दृष्टिकोण का परिष्कार, व्यवहार का परिष्कार ओर भावना का परिष्कार। मिथ्या दृष्टिकोण, मिथ्या व्यवहार और मिथ्या भावना—ये तीनों मनुष्य को उत्थान की ओर नहीं ले जाते, पतन की ओर ले जाते हें। किसी भी राष्ट्र के उत्थान और पतन का इतिहास पढे, किसी भी समाज ओर व्यक्ति के उत्थान ओर पतन की कहानी पढें, उनकी गहराई में तीन बातें मिलेंगी।

उत्थान के तीन कारण हें—सम्यक् दृष्टिकोण, सम्यक् व्यवहार ओर सम्यक् भाव।

पतन के तीन कारण हें—मिथ्या दृष्टिकोण, मिथ्या व्यवहार ओर मिथ्या भाव।

ये उत्थान-पतन के मूलभूत कारण हें। अवान्तर कारण सैकडों-हजारो हो सकते हैं, पर वे मूल के उपजीवी हें। जीवन विज्ञान की प्रक्रिया का यह महत्त्वपूर्ण कार्य होगा कि विद्यार्थी का दृष्टिकोण परिष्कृत हो, व्यवहार ओर भावना परिष्कृत हो। प्रश्न होता है कि हमारा दृष्टिकोण, व्यवहार ओर भाव मिथ्या क्यों होते हें ? उनका माध्यम क्या हे ? इस प्रश्न को समाहित करने के लिए हम सिद्धान्तों की सूक्ष्म चर्चा में न जाए अपितु स्थूल वात पर अपना ध्यान केन्द्रित करें—जो निर्विवाद हे, जिसकी वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती हे।

पहले हम यह सोचें कि हमारे दृष्टिकोण पर, व्यवहार और भाव पर नियत्रण किसका है ? कोन इनको सचालित करता हे ? वैज्ञानिक खोजो ने यह प्रस्थापित किया है कि इन सव पर हाइपोथेलेमस (मस्तिष्क का एक भाग) तथा अन्त स्रावी ग्रन्थियों का नियत्रण हे। पीनियल और पिच्यूटरी—ये ग्रथिया इनको सचालित करती हैं। इन ग्रथियो से प्रभावित एड्रीनल भी इन पर नियत्रण रखती है।

हमें परिष्कार करना है दृष्टिकोण का, हमें परिष्कार करना है व्यवहार का और हमें परिष्कार करना हे भावना का। यह हमारा लक्ष्य है, किन्तु जब तक हाइपोथेलेमस पर ध्यान केन्द्रित नहीं करेंगे, तब तक ग्रथियो से स्रवित होने वाले स्राव का परिष्कार नहीं होगा और जब तक यह ग्रथि-स्राव परिष्कृत नहीं होगा तब तक दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव का परिष्कार नहीं होगा।

यह सही है कि परिस्थितिया हमारे दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव को प्रभावित करती हैं, किन्तु उनका स्थान पहला नहीं है, द्वितीय है। वे मुख्य नहीं, गौण हैं। मुख्य हैं

अन्त:स्रावी ग्रंथियो के स्राव। इन्हें उपादान कारण कहा जा सकता है और परिस्थिति को निमित्त कारण माना जा सकता है। निमित्त का उतना मूल्य नहीं होता, जितना उपादान का होता है। घडे का उपादान है मिट्टी और निमित्त है कुभकार, चाक आदि। कुभकार और चाक का भी अपना महत्त्व है, पर जब घडे की निर्मिति हो रही होती है तब ज्यादा मूल्य होता है मिट्टी का। उपादान का मूल्य अधिक होता है। उसके बिना कुछ बनता नहीं है।

हमें उपादान का भी परिष्कार करना है और निमित्त का भी परिष्कार करना है। दोनों का परिष्कार करना है। मिट्टी के बिना भी घड़ा निर्मित नहीं होता ओर कुभकार तथा चाक के बिना भी वह नहीं बनता। घडे की निर्मिति में दोनों जरूरी हें, पर दोनों में पहला स्थान है मिट्टी का।

इस प्रकार परिष्कार के लिए हमें पहला स्थान देना होगा आन्तरिक उपादानों को और दूसरा स्थान देना होगा परिस्थितियो को—परिस्थितिजनित निमित्तों को।

65

स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण

साधना की दृष्टि से शरीर के तीन बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं—प्राणकेन्द्र—नासाग्र, दर्शनकेन्द्र—भृकुटी के बीच का केन्द्र, अन्तर्दृष्टि का केन्द्र, ज्योतिकेन्द्र—आचार के अनुशासन का केन्द्र, स्वभाव-परिवर्तन और स्वभाव-नियत्रण का केन्द्र। स्वतत्र व्यक्तित्त्व के विकास के लिए तीन अपेक्षाए हैं—प्राणशक्ति का विकास, अन्तर्दृष्टि का विकास और अनुशासन का विकास, नियंत्रण का विकास।

पहली बात है—प्राणशक्ति का विकास। यदि हम नासाग्र का ठीक उपयोग करें, प्राणकेन्द्र पर दीर्घकाल तक ध्यान करें तो प्राणशक्ति का विकास हो जाता है। प्राणशक्ति का विकास हुए बिना अगला विकास होना कठिन होता है। प्राणशक्ति एक विस्फोट की शक्ति है। शक्ति के बिना दुनिया में कुछ भी नहीं होता। सारे काम होते हैं वे शक्ति के माध्यम से होते हैं। मनुष्य को सघर्ष भी करना पडता है, विस्फोट भी करना पडता है। हमारा जीवन समन्वयात्मक है, सहअस्तित्व वाला है, किन्तु उसमें सघर्ष के बीज भी छिपे हुए हैं, अत सघर्ष करना भी बहुत जरूरी होता है। और, स्वतत्र व्यक्तित्त्व के निर्माण के लिए तो सघर्ष करना बहुत जरूरी है। पलायन से काम नहीं चलता, सघर्ष जरूरी है। सघर्ष शक्ति के बिना हो नहीं सकता, उसके लिए भी प्राणशक्ति का विकास चाहिए।

जब प्राणशक्ति पर्याप्त मात्रा में होती है, हमारी विस्फोट करने की शक्ति विकसित होती है, तो फिर दूसरा विकास होता है—अन्तर्दृष्टि का। शक्ति आखिर शक्ति है। शक्ति का उपयोग अच्छे काम के लिए भी हो सकता है और बुरे काम के लिए भी हो सकता है। शक्ति का उपयोग अच्छे काम के लिए हो, इसके लिए जरूरी है अन्तर्दृष्टि का विकास। कोरा प्राणशक्ति का विकास बहुत खतरनाक बन जाता है। उस विकास को भी ठीक दिशा में संचालित करने के लिए अन्तर्दृष्टि का विकास चाहिए। अन्तर्दृष्टि के विकास का स्थान है—दर्शनकेन्द्र। दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करने वाला व्यक्ति अन्तर्दृष्टि को उपलब्ध हो जाता है। अन्तर्दृष्टि मन की सीमा एव बुद्धि की सीमा से परे है। जहा मन की सीमा एव बुद्धि की सीमा समाप्त हो जाती है, विवेक की सीमा समाप्त हो जाती है, उससे परे की सीमा है—अन्तर्दृष्टि का विकास। समूचा धर्म अन्तर्दृष्टि के विकास से उपजा है। इसलिए जो लोग बुद्धि के स्तर पर काम करते हैं वे यदि धर्म का विरोध करें तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यह आश्चर्य की बात नहीं है। बुद्धि की सीमा में सोचने वाला

व्यक्ति अगली सीमा, जिसे कि वह नहीं जानता, यदि उसका विरोध करे तो उसका आश्चर्य क्यो होना चाहिए ?

जिसकी अन्तर्दृष्टि जाग जाती है उसका चिन्तन, उसका विचार, उसके निर्णय, सारे अलौकिक हो जाते हैं। हम किसको लौकिक और किसको अलौकिक मानें ? कोई बीच में सीमारेखा तो होनी चाहिए। दोनो की सीमारेखा है—अन्तर्दृष्टि। दो जगत् हैं—एक है बुद्धि का जगत् और दूसरा है अतीन्द्रिय ज्ञान का जगत्। दोनों के बीच में है अन्तर्दृष्टि का जगत्। जहा तक बुद्धि है वह है लौकिक और बुद्धि से परे अन्तर्दृष्टि की सीमा में प्रवेश करना है अलौकिक। अन्तर्दृष्टि का निर्णय, अन्तर्दृष्टि का व्यवहार, अन्तर्दृष्टि का आचार—सारा अलौकिक होता है। बुद्धि का व्यापार, बुद्धि का व्यवसाय, बुद्धि का निर्णय और बुद्धि का आचरण—यह सारा लौकिक होता है।

राजा ने प्लेटो को फासी की सजा दे दी। सयोगवश फासी नहीं हो सकी। गुलाम बना दिया। गुलाम बनाना भी बहुत बडा दण्ड था उस समय का। किसी स्वतत्र व्यक्ति को गुलाम बना देना और उसे मालिक की इच्छा पर निर्भर कर देना, यह दण्ड था। स्वामी चाहे तो पीटे, मारे, जो चाहे सो करे। प्लेटो को गुलाम बना दिया। सचाई का पता चला तो उसे मुक्त कर दिया। गुलामी से वह मुक्त हो गया। राजा ने क्षमा मागी कि मैंने अपराध किया अनजाने में। अनजान में, बिना सचाई को पहचाने, आपको कष्ट दिया, फासी की सजा दी, मैं क्षमा चाहता हूँ, आप मुझे क्षमा करें।

प्लेटो ने कहा—'मैं सत्य की शोध में लीन हूँ। मुझे पता ही नहीं कि तुमने फासी की सजा दी और तुमने गुलाम बनाया। किसकी माफी दूँ, किसको क्षमा करूँ ? मुझे पता ही नहीं कि तुमने क्या किया।

क्या यह कोई लौकिक निर्णय हो सकता है ? क्या यह कोई बुद्धि का निर्णय हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं हो सकता। यदि बुद्धिवादी आदमी होता तो बडा अभियोग पत्र तैयार करता। कितने तर्क प्रस्तुत करता कि तुमने बिना सोचे-समझे मुझे दण्ड दिया, मुझे फासी की सजा दी, गुलाम बनाया, इतना कष्ट किया और अब चाहते हो क्षमा, अब चाहते हो माफी, क्या यह सभव है ? यह कभी नहीं होगा। जब तक प्रतिशोध न ले लू, जब तक बदला न ले लू तब तक क्षमा की बात नहीं हो सकती।

प्लेटो का अलौकिक स्वर कहा से आया ? बुद्धि से नहीं आया। बुद्धि का यह स्वर नहीं हो सकता। यह है—अन्तर्दृष्टि का स्वर।

आचार्य भिक्षु पाली में थे। चातुर्मास किया। एक स्थान में ठहरने गए। दुकान थी। दुकान मालिक ने ठहरने की स्वीकृति भी दे दी, किन्तु ऐसा वातावरण बना, किसी ने उकसाया कि क्या कर रहे हो ? फिर दुकान मिलेगी भी नहीं। कब्जा हो जाएगा। भडका दिया। भडकाने वाले की भावना ठीक नहीं थी, नीति अच्छी नहीं थी। मालिक आया

और बोला—मुनिजी! दुकान खाली कर दें। अब आप दुकान में नहीं रह सकते। मालिक मनाही करे तो साधु रह नहीं सकता। आचार्य भिक्षु ने कहा कि बिलकुल ठीक है। चल दिए वहा से। दूसरे स्थान पर चले गए।

चातुर्मास चल रहा था, वर्षा हो रही थी। काफी पानी गिरा। दुकान थी पुरानी। ढह गई। पूरी दुकान ढह गई। किसी ने आकर कहा—महाराज! आप जिसमें अधिक ठहरने वाले थे, वह दुकान तो ढह गई। आचार्य भिक्षु ने कहा—कितना उपकारी था वह जिसने दुकान मालिक को भडकाया। अगर वह नहीं भडकाता, मकान मालिक अस्वीकार नहीं करता तो हम लोग वहां ठहरते और आज जब दुकान ढहती तो सारे साधुओं की क्या स्थिति होती? कितना उपकारी! क्या यह वुद्धि का स्वर है? कभी नहीं। बुद्धि का स्वर तो यह होता कि उसकी कितनी वुरी नीति थी। हमारे साथ उसने कितना बडा अन्याय किया। न जाने कितनी वातें कही जातीं। किन्तु घटना को न देखना, घटना की प्रेरणा को न देखना, अपितु घटना की एक अलोकिक व्याख्या करना, यह अन्तर्दृष्टि का स्वर हो सकता है, बौद्धिक जगत का स्वर नहीं हो सकता।

स्वतत्रता की वात वहुत होती है, किन्तु प्राणशक्ति का समुचित विकास हुए बिना ओर प्राणशक्ति के द्वारा अन्तर्दृष्टि को विकसित किए बिना यह स्वतत्रता की चेतना जागती नहीं। जिन लोगों ने प्राणशक्ति का विकास नहीं किया अथवा प्राणशक्ति का विकास करके उसको अन्तर्दृष्टि के विकास में नहीं लगाया वे हजारों वर्षों की चर्चा, विवेचना और उपदेशना के वाद आज भी अलौकिक और अन्तर्दृष्टि की प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं। यह प्रतीक्षा अनत-काल तक चले तो भी काम नहीं होगा। प्रतीक्षा प्रतीक्षा रह जाएगी।

दर्शन-केन्द्र अन्तर्दृष्टि को विकसित करता है, ज्योति-केन्द्र सारी आचारात्मक प्रवृत्तियों का नियत्रण करता है ओर अग्रिम मस्तिष्क समूचे ताप-मान का नियत्रण करता हे। और, इन सवको नियत्रित करता है हाइपोथेलेमस। वह पीनियल को नियत्रित करता है, पीनियल पिच्यूटरी को नियत्रित करती हे। यह पाच-छह अगुल का भाग सारा नियत्रण करता है और यहा से समूचे शरीर का नियत्रण होता है।

जव ये तीन विकास हो जाते हैं—प्राणशक्ति का विकास, अन्तर्दृष्टि का विकास और अनुशासन (नियत्रण) की शक्ति का विकास—तभी स्वतत्र व्यक्तित्त्व का निर्माण सभव है। उसके बिना स्वतत्र व्यक्तित्त्व का निर्माण कभी सभव नहीं हो सकता।

66

शुद्ध व्यक्तित्व

हमारा व्यक्तित्व दो तत्त्वो से निर्मित हुआ है—1 आत्मा या चेतना तथा 2 पुद्गल—यह शुद्ध नहीं है, एक मिश्रण है।

एक तत्त्व से बना हुआ व्यक्तित्व शुद्ध होता है। हमारा व्यक्तित्व मिश्रण से बना हुआ है। हम न केवल आत्मा हैं, न केवल चेतना हैं, न केवल जड हैं, न केवल पुद्गल हैं। पुद्गल और चेतन—दोनो का योग है हमारा व्यक्तित्व। इस ससार मे कोई भी प्राणी ऐसा नही है जो इस योग से रहित है। दोनो के योग से प्राणी का निर्माण हुआ है। प्रतिशत की भाषा मे बाधें तो कहा जा सकता है—पचास प्रतिशत चेतना का और पचास प्रतिशत पुद्गल का योग मिला और एक प्राणी बन गया। यदि हम अपने व्यक्तित्त्व और उसके निर्माण की प्रक्रिया को वास्तविकता के आधार पर समझ ले तो हमारी धारणाए बहुत स्वस्थ बन जाएगी। हम केवल चेतन पर अथवा केवल अचेतन पर झुक जाते है। यह एकागी अथवा मिथ्या अवधारणा है। इस अवधारणा के आधार पर होने वाले सारे निष्कर्ष गलत होगे।

कथनी और करनी एक समान होनी चाहिए, यह बात सुनने मे बहुत मीठी लगती है, पर जो वास्तविक समस्या है, जटिलता है उसे कैसे अस्वीकार करे? समस्या यह है कि हम मनुष्य है, बौद्धिक हैं, चिन्तनशील हैं, मननशील हैं। बडे-बडे आयोजन करते हैं, उनमे सिद्धातो की चर्चा करते हैं, अच्छी-अच्छी बाते करते हैं, किन्तु इस बात को भूल जाते हैं कि हमारे भीतर एक सघर्ष चल रहा है। एक पैर इधर खींचा जा रहा है, एक पैर उधर खींचा जा रहा है। एक हाथ इधर खींचा जा रहा है, दूसरा हाथ उधर खींचा जा रहा है। मस्तिष्क का एक पटल एक ओर खींचा जा रहा है, दूसरा पटल दूसरी ओर खींचा जा रहा है। निरतर एक रस्साकसी चल रही है। यह स्वाभाविक बात है। जहा दो बैठे है वहा यह कैसे नही होगा? एक आसन पर दो बैठ जाते है तो खींचातानी हो जाती है। जहा एक पद होता है और उसके दो दावेदार होते है वहा सघर्ष अथवा खींचातानी का अवकाश बना रहता है।

पुद्गल और जीव के मध्य भी खींचातानी चल रही है, सघर्ष चल रहा है। पुद्गल पुद्गल से तृप्त होता है और आत्मा आत्मा से तृप्त होती है। आत्मा को चेतना का विकास इष्ट है और पुद्गल को पुद्गल से भरना इष्ट है। पुद्गल की माग है अच्छा खाना, अच्छा पीना, अच्छा देखना, अच्छा सुनना, सिर्फ पौद्गालिक चाह। यह चाह

भीतर से आती है। आदमी अपनी इद्रियो का उपयोग करता हे। निरतर अच्छा देखने मे रस लेता है, अच्छे शब्द सुनने मे आसक्त रहता है। यह माग भीतरी जगत से आ रही है। हमारे भीतर जो पुद्‌गल हे वह हमारे व्यक्तित्त्व पर पचास प्रतिशत अधिकार जमाए बैठा है।

पुद्‌गल की माग को केसे ठुकराए? माग को ठुकराना आसान भी नही है। दूसरी ओर आत्मा की माग हे कि चेतना जागे, उसका विकास हो। आवरण दूर हो, बाधाए दूर हो, मूर्च्छा हटे। यह माग भी भीतरी जगत से आ रही हे। आत्मा की माग अलग है और पुद्‌गल की माग अलग। इन दोनो मे खींचातान हो रही हे, सघर्ष हो रहा है। चेतना पुद्‌गल को ओर पुद्‌गल चेतना को दवाना चाहता है। इसीलिए चेतना और पुद्‌गल के बीच निरतर सघर्ष की स्थिति वनी रहती हे।

हमारा व्यक्तित्व सघर्पशील व्यक्तित्व है। वह निरतर सघर्ष मे लगा हुआ है। आदमी पुद्‌गल की वात माने या चेतना की? पुद्‌गल की माग ठुकराए या आत्मा की? यह वडा जटिल प्रश्न हे। इसका समाधान खोजना बडे-से-बडे वेज्ञानिक के लिए भी सरल नहीं है। अध्यात्म के आचार्यों ने इस समस्या पर विचार किया, उसका समाधान खोजने का प्रयत्न किया।

धर्म के क्षेत्र मे लडाई की चर्चा अजीव लगती हे, पर जब तक हम लडाई का चुनाव नहीं करेगे तव तक इस सघर्प में विजयी नहीं बन सकते, नई-नई उत्पन्न होने वाली समस्याओ से निपट नहीं सकते। वादशाह ने बीरबल से कहा—'मेरे सब अधिकारी सुदर हें, में भी सुदर हूँ किन्तु तुम सुदर नहीं हो। तुम्हारा रग भी काला है, आकृति भी अच्छी नहीं हे।' बीरवल प्रतिभासम्पन्न था। उसने तुरत कहा —'जहापनाह। भगवान के द्वार पर मनुष्य की वुद्धि ओर रग का वटवारा हो रहा था। आप सबने रग को चुन लिया और मेंने बुद्धि को। अपनी-अपनी पसद है, अपना-अपना चुनाव है।'

आध्यात्मिक वनने के लिए एक नया सघर्ष शुरू करना है। वह किसके साथ करना है यह चितन का विपय हे। पुद्‌गल ने अपने तीन परकोटे बना रखे हैं। उन्हे तोडना आसान कार्य नहीं है। ये तीन परकोटे हैं—

1 मन की चचलता, 2 चार कपाय—क्रोध, मान, माया, लोभ, 3 पाच इन्द्रिया—त्वचा, जीभ, घ्राण, आख और कान। सघर्ष मे इन सबसे मोर्चा लेना पडेगा, मजबूत परकोटो को तोडना होगा।

सबसे पहला परकोटा है मन की चचलता का। जैसे-जेसे चचलता बढती है आदमी पागलपन की दिशा मे बढता चला जाता है। चचलता के साथ अनेक समस्याए पैदा होती हैं। मन की चचलता को कम करने का पहला प्रयोग है किसी एक आलम्बन पर दस-बीस मिनिट तक मन को एकाग्र करना। केवल एक विचार पर ध्यान केन्द्रित

करे। आनद केन्द्र पर ध्यान किया तो केवल आनद केन्द्र का ही अनुभव करे, दूसरा कोई विचार न आए। ध्यान काल मे दूसरा विचार आते ही ध्यान भग हो जाता है। सघन एकाग्रता की स्थिति का निर्माण ध्यान की उच्च कक्षा की स्थिति है। प्रारभिक कक्षा वालो के लिए यह बात नहीं है। इन कक्षाओ मे ध्यान का नहीं, धारणा का प्रयोग होता है।

योग के दो शब्द हैं—1 धारणा, 2 ध्यान। धारणा का अर्थ है श्वास पर मन को लगा देना। जागरूकता कम होते ही मन भटकने लग जाता है। जागरूक बनते ही मन श्वास पर टिक जाता है। मन को ज्योति-केन्द्र पर केन्द्रित किया, कुछ क्षण वहा एकाग्र रहा, फिर ध्यान भग हो गया। धारणा पानी की एक-एक बूद की तरह है। बूद धीरे-धीरे एक धार बन गई। यह ध्यान की स्थिति है। धारणा है एक-एक बूद पानी का गिरना और ध्यान है गिरती हुई बूदो का धार रूप मे परिणमन। श्वास को निरंतर देखे, पाच मिनिट श्वास का ध्यान करे। श्वास दर्शन के अतिरिक्त कोई दूसरा विचार न आए। इस अवस्था मे ध्यान की स्थिति का निर्माण होगा। श्वास दर्शन के दौरान यदि विचारो का चक्र चलता रहे तो वह ध्यान नहीं, धारणा की स्थिति होगी। उस समय यदि कोई विचार न आए तो वह ध्यान बन जाएगा। एक मिनिट मे 10-20 विचार आते हैं। श्वास दर्शन के समय यदि पाच विचार आए तो कहा जा सकता है—हम ध्यान की दिशा मे आगे बढ रहे हैं। निरतर प्रयोग चलता रहे तो सभव है यह स्थिति बन जाए कि एक मिनिट मे कोई भी विचार न आए।

वीतराग होने पर मन की चचलता समाप्त हो जाती है, किन्तु उस अवस्था मे भी कायिक चचलता बनी रहती है। मन की चचलता पर नियत्रण करना जरूरी है। विचारो का जो एक ताता-सा लगा हुआ है, अविच्छिन्न प्रवाह सा चल रहा है, उसे अभ्यास के द्वारा रोकना सभव है। हम प्रतिदिन 5 से 20 मिनिट तक निर्विचार रहने का अभ्यास करे। मन की चचलता बिल्कुल न रहे, मन अ-मन बन जाए।

मैं अपने अनुभव के आधार पर बता रहा हूँ कि जब-जब निर्विचारता की स्थिति आती है उस समय जिस अनिर्वचनीय शाति और सुख का अनुभव होता है उस सुख और शाति का अनुभव इस दुनिया का कोई पदार्थ नही करा सकता। किसी भी भौतिक पदार्थ मे यह सामर्थ्य नही कि वह ऐसा अनिर्वचनीय सुख दे सके। सुख का वह स्रोत अपने भीतर से फूटता है। अध्यात्म के आचार्यों की अनुभवपूरित वाणी है—'नही एहवो सुख सुर इन्द्रा ने, नहि चक्रीवर राया।'

यह सुख वीतरागता का सुख है। यह सुख देवताओ के राजा इन्द्र और चक्रवर्ती को भी प्राप्त नहीं है। यह मात्र अतिशयोक्ति नही है, अनुभूत सचाई है।

दूसरा परकोटा है—कषाय का। क्रोध, मान, माया और लोभ का। आत्मा के साथ युद्ध करने के लिए एक मोर्चा होगा—सवेगो को कम करना, उन पर नियत्रण करना।

यह कार्य भी बहुत जटिल है पर जिसने मन की चंचलता को कम करना सीख लिया उसके लिए सवेगो पर नियत्रण करने का कार्य भी सरल हो जाएगा। आवेश आदमी को भटका देता है। भ्रष्टाचार, अनैतिकता एव वर्तमान की बहुत सारी समस्याओ की समीक्षा करे तो निष्कर्ष आएगा कि इनका मूल कारण है कषाय। अनैतिकता की समस्या को कौन जन्म दे रहा है ? सरकारी कर्मचारी या व्यापारी ? नहीं, इनमे से कोई भी नहीं। इसे पैदा करने वाला है कषाय। कोई भी समस्या सामने आती है, सरकारी कर्मचारी को अपदस्थ कर दिया जाता है, व्यापारी को जेल मे भेज दिया जाता है और कहा जाता है कि समस्या का समाधान हो गया। वस्तुत , इससे समस्या और अधिक बढ जाती है। जहा से समस्या आ रही है उस ओर हमारा ध्यान ही नही जाता।

एक राजा प्रकृति से बहुत दयालु था। उसने सोचा—मेरे नगर मे बच्चे बहुत है। उनके लिए दूध बहुत आवश्यक है। मैं गरीब बच्चो के लिए दूध का प्रबध करूँ। राजा समर्थ था। उसने एक गौशाला बना दी। सैकडो गायो की व्यवस्था कर दी। एक ग्वाले को नियुक्त कर दिया। वह जागरूकता से अपना कार्य करने लगा। राजा प्रसन्न, बच्चे प्रसन्न, पूरा नगर प्रसन्न। दो महीने तक क्रम व्यवस्थित चला। तीसरे महीने मे राजा ने देखा—दूध पतला हो गया है। कारण पूछा। कहा—मौसम के प्रभाव के कारण गाए पतला दूध दे रही हैं। राजा के बात समझ मे नहीं आई। उसने गायो की देखभाल के लिए एक और अधिकारी नियुक्त कर दिया पर समस्या का समाधान नहीं हुआ। राजस्थान की मार्मिक कहावत है—'टोपी ऊपर टोपलो, किसे गाव रो न्याय ?' एक अधिकारी पर दूसरा अधिकारी बिठा देना, यह कैसा न्याय है ?

समस्या का समाधान तब तक नहीं होगा जब तक व्यक्ति-व्यक्ति के सवेगो को कम करने का अभ्यास नहीं कराया जाएगा। व्यक्ति-व्यक्ति को आध्यात्मिक बनने की बात नहीं सिखाई जाएगी। उसे अपने आप से युद्ध करने का सूत्र नही दिया जाएगा, संवेगो पर और मन की चचलता पर अनुशासन करना नही सिखाया जाएगा। एक अधिकारी के स्थान पर दूसरा अधिकारी, एक कमीशन पर दूसरा कमीशन बैठता चला जाएगा, दूध पतला होता जाएगा और एक दिन उसकी सफेदी भी समाप्त हो जाएगी, पर समस्या का समाधान नहीं होगा।

हमारा मूल विषय है—व्यक्तित्व का निर्माण। इसका पहला कदम है आध्यात्मिक व्यक्तिम्व का निर्माण। *आध्यात्मिक होने का अर्थ है यौद्धा बनना। अपनी लडाकू वृत्ति* को इस कार्य मे नियोजित करे, व्यक्तित्व का निर्माण होगा। यदि यह कार्य नही किया, केवल पुद्गल की मागो की आपूर्ति मे लगे रहे तो न हमारे व्यक्तित्व का विकास होगा और न समस्या का समाधान होगा।

67

स्वावलम्बन

कुछ लोग ध्यान को निष्क्रियता का प्रतीक मानते हैं। उनकी दृष्टि मे ध्यान का प्रयोग वे व्यक्ति करते हैं, जिसके पास कोई दूसरा महत्त्वपूर्ण काम नहीं होता। पर में इस मान्यता से सहमत नहीं हूँ। मेरे अभिमत से यह चिन्तन उन लोगों का हो सकता है जो ध्यान की विधि से परिचित नहीं हैं और उस प्रक्रिया से गुजरे नहीं हैं। अनेक विशिष्ट शक्तियों का जागरण कर मनुष्य को कहा से कहा पहुचा देती है।

मैं चाहता हूँ कि हमारे साधक निराशा या भय से मुक्त हो और प्रलोभन के प्रवाह मे न बहें। भय और प्रलोभन से चित्त विक्षिप्त होता है। इसलिए सही पथ-दर्शन में सही गुर सीखकर उसका अभ्यास करना चाहिए। इस क्रम से अपना ही नहीं समूची मानवता का भला हो सकता है।

हमारे वैयक्तिक जीवन की दूसरी फलश्रुति है—स्वावलम्बन। स्वावलम्बन कहा है? इतना परावलम्बन होता है कि आदमी दूसरे पर निर्भर होता चला जाता है। आपने अमरबेल का नाम सुना होगा। नाम तो बहुत सुन्दर है पर बडी खतरनाक बेल होती है। जिस पौधे पर चढ जाती है उसका तो अन्त ही समझिये। अपने पैरों पर खडी नहीं होती। दूसरे का आलम्बन ढूढती है, दूसरो के सहारे खडी होती है। बडी अजीब प्रकृति है। जिसके सहारे खडी होती है उसे खाना शुरू कर देती है। कहा जाता है कि अमरबेल एक किलोमीटर तक अपना पैर फैला देती है। वह दूसरो पर फैलती है और दूसरों को समाप्त करती चली जाती है। परावलम्बन का सबसे अच्छा उदाहरण है—अमरबेल। आदमी भी कम परावलम्बी नहीं है, अमरबेल से कम खतरनाक नहीं है। वह भी दूसरो के कधो पर अपना वैभव, अपना ऐश्वर्य चलाता है और उनको चट करता चला जाता है।

आज व्यक्ति इतना परावलम्बी हो गया कि उसने स्वावलम्बन को बिलकुल भुला डाला है। लगता तो यह है कि यदि दूसरा काम करने वाला मिलता हो तो शायद कुछ लोग तो हाथ हिलाना भी पसन्द नहीं करेंगे। मुह में कौर डालना भी नहीं चाहेंगे। चाह रहे हैं कि ऐसी मशीन का निर्माण हो जो कोरी रसोई ही नहीं पकाए, मुह में कौर भी दे। फिर ऐसी मशीन की खोज भी करनी होगी जो पचा भी दे। पचाने की भी फिर क्या जरूरत है? इतनी सुविधावादी मनोवृत्ति बन जाती है कि आदमी हर बात के लिए दूसरो का मुह ताकता रहता है। इससे एक बहुत बडा अनर्थ हुआ है कि आदमी श्रम करना भूल गया।

'ते गिच्छ नाभिमंदेज्जा'-जैन मुनि चिकित्सा की इच्छा न करे। यह बहुत प्राचीन सिद्धान्त है। जैन आगमों में यह उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता हे। यह केसे सम्भव हो सकता हे कि बीमारी हो ओर चिकित्सा न हो ? चिकित्सा हो सकती है पर वह बाहरी वस्तु से न हो, यह इस सूत्र का हार्द हे। स्वावलम्बन ओर स्व-निर्भर होकर अपनी वस्तु से चिकित्सा करो, बाह्य वस्तु से चिकित्सा मत करो, पर-वस्तु से चिकित्सा मत करो।

शरीर में रोग पेदा होता है तो शरीर में नीरोगता की भी पूरी व्यवस्था हे। आसनों का विकास इस दिशा में हुआ था। चिकित्सा के लिए बाहरी वस्तुओं की अपेक्षा नहीं है। आसनों का प्रयोग करो, चिकित्सा हो जाएगी। श्वास ओर विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग रोग निवारण की दिशा में हुआ था। इसमें नाडी-विज्ञान का पूरा उपयोग किया गया था। पाचन कमजोर हे। भोजन के बाद वज्रासन में बेठो, पाचन की दुर्बलता मिट जाएगी। पाचन की गड़बडी हे। भोजन के बाद दाए नथुने से पद्रह मिनट तक श्वास लो, पाचन स्वस्थ होने लगेगा। पाचन दुर्बल हे। महामुद्रा का प्रयोग करो, पाचन ठीक होने लगेगा। प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए आसन ओर नाडियों का प्रयोग तथा स्वर का प्रयोग खोजा गया था। हजारों आसनों का प्रयोग होने लगा। शारीरिक बीमारी हो तो आसनों का प्रयोग किया जा सकता हे ओर मानसिक बीमारी के लिए भी आसनों का प्रयोग किया जा सकता ह। ये सारे तथ्य स्वावलम्बन ओर आत्मानुशासन के लिए खोजे गए थे।

68
प्रामाणिकता

प्रामाणिकता का पहला और प्रधान विषय है--वाचिक प्रामाणिकता। प्रामाणिकता का दूसरा विषय है—आर्थिक प्रामाणिकता। अर्थ के सम्बन्ध मे प्रामाणिकता का विकास हुआ था। बहुत जबरदस्त विकास हुआ था। परिभाषा की गई कि पवित्र कौन होता है? 'अर्थशुचि शुचिः'—जो आर्थिक मामले मे पवित्र होता है, वास्तव मे वही व्यक्ति पवित्र होता है। आर्थिक पवित्रता की पुरानी घटनाए भी है। नई घटना भी आज हमारे सामने हैं। नयी घटना है आचार्य नरेन्द्रदेव की। बहुत बडे विद्वान् और बहुत बड़े राजनीतिज्ञ हुए हैं आचार्य नरेन्द्रदेव। वाइस चासलर थे। तागे मे जा रहे थे। लोगो ने पूछा-यह कैसे, महाराज! आपके पास तो कार है, फिर तागे मे कैसे? उन्होने कहा—मे अपने काम से जा रहा हूँ, कार विश्वविद्यालय की है। मैं अभी विश्वविद्यालय के काम से नहीं जा रहा हूँ, मैं अपने काम से जा रहा हूँ। यह है आर्थिक प्रामाणिकता।

जोधपुर राज्य का दीवान था। दो दीये जलाया करता था, अपने घर मे। कोई देखने नहीं आता था, फिर भी उसके घर मे दो दीये जलते थे। जब राज्य का काम करता तो राज्य का दीया जलता और जब घर का काम करता तो उस दीये को बुझा देता, अपना दूसरा दीया जला लेता। यह है आर्थिक प्रामाणिकता।

प्रामाणिकता का तीसरा विषय है—व्यवहार की प्रामाणिकता। एक प्रकार का व्यवहार विश्वास पैदा करता है और दूसरे प्रकार का व्यवहार अविश्वास पैदा करता है। समाज मे बहुत अपेक्षा होती है कि अच्छा व्यवहार मिले। सब लोग अपेक्षा रखते हैं कि माता-पिता से अमुक व्यवहार मिले। पुत्र से पिता अपेक्षा रखता है कि अमुक व्यवहार मिले। पड़ोसी पडोसी से ऐसे व्यवहार की अपेक्षा रखता है। जहॉ व्यवहार की प्रामाणिकता होती है, समाज स्वस्थ रहता है और जहा व्यवहार मे अप्रामाणिकता आ जाती है, बडी कठिनाइया पैदा होती है समाज में।

एक व्यक्ति ने बताया—मेरा पडोसी मेरे साथ विचित्र व्यवहार करता है। अपने घर से सारा कूड़ा-करकट निकालता है और उसे मेरे मकान के सामने डाल देता है। मैने उसे बहुत समझाया—भाई, ऐसा मत करो। काफी समझाने पर भी नहीं माना तो सोचा, अब क्या किया जाना चाहिए, बडी समस्या है। तो फिर मेरे नौकर ने भी ऐसा ही शुरू किया। सारा कूडा-करकट वह निकालता और उसे साथ मिलाकर दोनो को उसके घर के आगे डाल देता।

जिस दिन मनुष्य मे अनधिकृत वस्तु को प्राप्त करने की आकाक्षा उत्पन्न हुई, उसी दिन उसमे अप्रामाणिकता का वीज अकुरित हो गया। प्रामाणिकता का अर्थ हैं—अधिकृत का ग्रहण ओर अनधिकृत का प्रत्याख्यान। आकाक्षाशील मनुष्य इस मर्यादा को स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह अप्रामाणिक हो जाता हे।

प्रामाणिकता अचोर्य ह ओर अप्रामाणिकता चोरी हे। हमारे तत्त्व-चितको ने कभी-कभी प्रामाणिकता की वहुत वडी कसोटी प्रस्तुत की हे। उन्होने लिखा हे-

यावद भ्रियेत जठर, तावत् स्वत्व हि देहिनाम्।
अधिक योभिमन्येत, स स्तेनो दडमर्हति॥

जितने से पेट भरे उतना ही मनुष्य के लिए अधिकृत ह। उतना ही उसका स्वत्व हे। शेष उसका नहीं ह, दूसरो का हे। जो व्यक्ति उससे अधिक अपने अधिकार मे लेना चाहता हे वह चोर हे आर दड पाने का अधिकारी हे।

प्रामाणिकता या अचोर्य की यह परिभाषा वहुत ही अतिम कोटि की परिभाषा हे। इससे एक तथ्य स्पष्ट होता ह कि अधिक सग्रह की दिशा मे गतिशील मनुष्य प्रामाणिक नहीं रह सकता। इसे दूसरे शव्दो मे इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रामाणिक व्यक्ति अधिक संग्रह नहीं कर सकता।

स्वामी विवेकानन्द अमरीका गए। उनसे किसी अमरीकन ने पूछा—महात्मा गांधी की विशेषता क्या ह ? 'वे धनपति हं या सत्ताधीश हें ?' विवेकानन्द ने मुस्कराकर कहा—'वे धन आर सत्ता दोनो से अकिचन हं।' 'तो फिर उनकी क्या विशेषता है ?' उस व्यक्ति ने पूछा। विवेकानन्द ने कहा—'महात्मा गाधी मे तीन विशेपताए हैं। ये विशेषताए उन्हे भारतीय धर्म से प्राप्त हुई हें, ये हें—1 प्रामाणिकता, 2 सत्याग्रह, 3 सादगी।'

69

समन्वय-चेतना

आदमी भिन्नता से कब तक लडेगा ? कब तक सघर्ष करता रहेगा ? लडाई का कभी कहीं अत नहीं होता। अत तब होता है जब मनुष्य जाति ही समाप्त हो जाती है। लड़ते-लडते सब समाप्त हो जाएगे तब लडाई स्वत· बद हो जाएगी। किन्तु, यह समस्या का समाधान नहीं है। यदि मनुष्य जाति को जीना है, जीवित रहना है तो उसे कोई विकल्प ढूंढना पडेगा, मार्ग निकालना होगा। वह विकल्प और मार्ग है—सहअस्तित्व और समन्वय की चेतना का विकास। इसके विकास के द्वारा ही असहिष्णुता की भावना को मिटाया जा सकता है।

जब आदमी समन्वय की चेतना से समाधान खोजता है तो कठिन कार्य भी सरल बन जाता है। प्रत्येक समस्या का समाधान सम्भव हो जाता है। समस्या है तो समाधान भी है। ऐसी एक भी समस्या नहीं है जिसका समाधान न हो। जहा समन्वय की चेतना का विकास होता है, जहा सापेक्षता की चेतना जाग्रत होती है, वहां कुछ भी असभव नहीं होता। एक अगुली को दूसरी अगुली की अपेक्षा रहती है। विरोध कहां नहीं है ? हम हाथ को देखें। चार अगुलिया और अगूठा परस्पर विरोधी हैं। दोनो भिन्न दिशाओं में हैं। पूरी मानव जाति का विकास इस विरोध के आधार पर हुआ है। यदि अगूठा अगुलियों की समरेखा में होता तो मनुष्य जाति का विकास कभी नहीं होता, सस्कृति और सभ्यता का विकास कभी नहीं होता। सभ्यता और सस्कृति का विकास इसी विरोध के कारण हुआ है। अगूठा अगुलियो की विरोधी दिशा में है, इसलिए लिपि का, चित्रकारिता का और शिल्प का विकास हुआ है। दोनो की भिन्न दिशागामिता ने विकास में योग दिया है। इनमें भिन्नता है, पर हम समन्वय करना जानते हैं, इसलिए कोई टकराव नहीं होता। अगूठा भी नहीं लडता और अगुलिया भी नहीं लडतीं। आवश्यकतावश दोनों सामजस्य स्थापित कर लेते हैं। लिखना है तो अगुली मिल जाती है अगूठे से। कोई कार्य करना है तो दोनो परस्पर मिल जाते हैं।

एक घटना है। कुम्हार के दो लडकिया थीं। एक किसान के यहा ब्याही थी और दूसरी का विवाह एक कुम्हार के यहा हुआ था। एक दिन पिता पुत्रियो से मिलने गया। किसान के यहा विवाहित बेटी ने कहा—पिताजी। बडी मुसीबत है। खेत बो दिए हैं। बरसात नहीं आ रही है। आकाश मे बादल हैं ही नहीं। सारा श्रम नष्ट हो जाएगा। आप प्रार्थना करें कि बरसात आ जाए। पिता दूसरी बेटी के यहा गया। उसने कहा—पिताजी।

सारे भाड आवे में पक रहे हैं। कहीं बरसात न आ जाए। पिता की समस्या थी कि वह किसके कल्याण की कामना करे। पिता किसान के यहा ब्याही पुत्री के पास जाकर बोला--'एक काम करना। वर्षा आ जाए, खेती अच्छी हो तो आधा हिस्सा अपनी बहन को दे देना। उसने स्वीकार कर दिया। फिर पिता कुम्हार के यहा ब्याही पुत्री के पास जाकर बोला--वर्षा न आए, खेती न हो, आवा ठीक पके तो आधा हिस्सा अपनी बहन को दे देना। उसने स्वीकार कर लिया। यह समीकरण होने पर दोनों प्रसन्न हो गईं।

प्रत्येक पदार्थ अपने विरोधी पदार्थ से जुडा हुआ है। वेज्ञानिकों ने प्रति-कण को खोजने के लिए सूक्ष्म उपकरणों का प्रयोग किया। ऐसा सूक्ष्म यत्र बनाया गया जो एक सेकण्ड के पद्रहवें अरब हिस्से में होने वाले परिवर्तन को पकड ले। तब उन्हें प्रति-कण का पता चला। आज यह सिद्धात प्रतिष्ठापित हो चुका हे कि प्रति-कण के विना कण का अस्तित्व नहीं हो सकता। दोनों का होना अनिवार्य हे। अनेकात का मूल आधार हे--विरोधी के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति। इस स्वीकृति से ही अनेकात का विकास होता हे। अनेकात कहता हे--सत्य को एक दृष्टि से मत देखो। सत्य को अस्तित्व की दृष्टि से देखते हो तो साथ-साथ उसे नास्तिक की दृष्टि से भी देखो। स्वीकृति के साथ अस्वीकृति--दोनों साथ-साथ चलनी चाहिए। एक से काम नहीं चलता।

यदि इस भापा में सोचा जाए कि या तो समाजवाद रहेगा या पूजीवाद रहेगा, या तो लोकतत्र रहेगा या एकतत्र रहेगा, तब युद्ध के सिवाय दुनिया में कोई विकल्प शेष नहीं रहेगा। जव यह अनुभव किया गया कि युद्ध सबसे वडा शत्रु है ओर यह मनुष्य जाति को अपार सकट में डालने वाला है, तव उसको टलने की वात उठी। यदि विरोधी को समाप्त करने की नीति पर चलें तव युद्ध को टालने की बात आती ही नहीं। तो फिर एक विकल्प निकालना पडा। राजनीति के मच पर यह घोपणा की गई कि सबका सह-अस्तित्व होना चाहिए। दोनों रह सकते हें, दोनों जी सकते हें। दोनो को जीने का अधिकार प्राप्त हे। इस सहअस्तित्व की नीति के आधार पर ही राष्ट्र-सघ जैसे सगठनो मे समाजवादी सगठन का प्रतिनिधित्व हे। सहअस्तित्व की घोपणा राजनीति के क्षेत्र मे नई है, किन्तु प्राकृतिक नियमो के आधार पर यह बहुत प्राचीन है। यह कोई नयी बात नहीं है। वनना ओर बिगडना, बनना और बिगडना--यह पुराना क्रम है।

एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के लिए आलम्बन बनता है। सघर्ष प्रकृति का नियम नहीं है, वह आरोपण है। महावीर ने कैवल्य प्राप्त कर जिस धर्म का प्रतिपादन किया उसकी आत्मा हे--समता। उनके धर्म की उत्पत्ति समता से होती है और उसकी निष्पति भी समता से होती है। अहिसा, अपरिग्रह, सहअस्तित्व, समन्वय, सापेक्षता और अनेकात--ये सब उसी समता के अग हैं। महावीर की अहिसा में विषमता के लिए कोई स्थान नहीं

है। ढाई हजार वर्ष पहले कुछ लोग धन के आधार पर बडे–छोटे माने जाते थे। कुछ लोग जातीयता के आधार पर बडे–छोटे माने जाते थे। कुछ लोग शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर बडे–छोटे माने जाते थे। किन्तु; महावीर ने इन मान्यताओं को अवास्तविक बतलाया और उन्होंने कहा–'मनुष्य में मौलिक एकता है, समता है। उसे इन काल्पनिक मूल्यों द्वारा विखण्डित नहीं करना चाहिए। बडा वह नहीं है, जो धनी है। बडा वह है जिसमें त्यागने की क्षमता है। बडा वह नहीं है, जो तथाकथित उच्चकुल में जन्मा है, बडा वह है जो सच्चरित्र है। बड़ा वह नहीं है, जो शास्त्रों का पडित है, बडा वह है जो सयमी है। बडपन्न और छुटपन, ये सापेक्ष मूल्य हैं। सचाई यह है कि सही अर्थ में बड़ा वह है जिसमें त्याग की शक्ति, सच्चरित्रता और सयम है।'

70

बड़ेपन का रस

यथार्थ में शिक्षा का मूल उद्देश्य है—मन का सतुलन, मन की शाति, मन का निर्विकल्प होना। इस ओर लोगों ने कभी ध्यान ही नहीं दिया। शिक्षा जगत में भी यह उद्देश्य उपेक्षित ही रहा। पूरे शिक्षा जगत पर हम ध्यान दें। आज व्यक्ति पढ-लिखकर अच्छा वज्ञानिक वन जाता हे, इजीनियर या डॉक्टर वन जाता हे, विशेपज्ञ वन जाता हे, फिर भी वह लड़ाई करता ह, निन्दा आर ईर्ष्या में फसा रहता ह, आत्महत्या कर लेता ह। यह क्यों ? यह वडा प्रश्न हं।

अशिक्षित व्यक्ति वुराइयों में फसे, यह समझ में आ सकता ह, परन्तु शिक्षित व्यक्ति भी उतनी ही वुराई करे, यह आश्चर्य होता हे। एक वेज्ञानिक जव ईर्ष्या ओर आवेश की ज्वाला में जल उठता ह और आत्महत्या कर लेता ह तव आश्चर्य होता हे। शिक्षा से उसे क्या मिला ? क्या शिक्षा से वह इतना भी अनुशासन नहीं सीख सका कि अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में अपना सतुलन रख सके ? इससे यही निष्कर्प निकलता हे कि आज की शिक्षा का उद्देश्य केवल वाद्धिक प्रश्नो को उभार देना और उनका वोद्धिक समाधान दे देना मात्र ह। सारी शिक्षा इसी सीमा में चल रही ह।

मनुष्य में यह मनोवृत्ति होती हे। वह दूसरे को नीचा दिखाकर अपने को ऊचा दिखाना चाहता ह। आत्मोत्कर्प आर हीनता की भावना यदि आदमी में न रहे तो समाज का रस ही समाप्त हो जाए। आदमी का सवसे वडा रस इस वात में होता हे कि ओर सव छोटे वने रहें, मं वडा वन जाऊँ।

वादशाह ओरगजेव को कारावास में डाल दिया, उसने कहा—यहा में विना मोत मर जाऊगा। एक प्रार्थना हे कि मुझे दस-वीस वच्चे दे दो। में कारवास में उन्हें पढाता रहूगा। उनकी पढाई भी होगी ओर मेरा समय भी अच्छी तरह से वीतेगा। ऐसी व्यवस्था भी कर दी गई। अव वादशाह कुर्सी पर वठता ओर सामने की फर्श पर वच्चे वेठते। वह बच्चों को डाटता। उसे रस की अनुभूति होती। जो रस पहले मुल्क पर शासन करने में आता, वही रस दस-वीस वच्चों पर अनुशासन करने में आने लगा। राज्य ि
जो रस आता, वही रस कारावास की कुर्सी पर वेठने में आने लगा।

चाहे पचास आदमियों पर हुकूमत करो ओर चाहे
हुकूमत करो। अन्तत हुकूमत-हुकूमत होती है। उसकी
व्यक्ति ऐसा नहीं हे जो समस्त विश्व पर शासन करता

मनुष्य को इसमें सहज रस की अनुभूति होती है कि एक छोटा रहे और दूसरा नीचा रहे। आदमी जाने या न जाने, माने या न माने, कहे या न कहे, यह रस प्रत्येक आदमी के अन्त.करण में ऐसा प्रतिष्ठित है कि वह छूटता ही नहीं या कठिनाई से छूटता है। वह चाहता यही है कि मैं बडा रहू, दूसरे छोटे रहें। यदि दूसरे छोटे न हों तो बडा बनने में रस ही क्या रहा ? जब बडा होने का रस नहीं है, छोटा होने की स्थिति नहीं है तो फिर बहुत कुछ धन, पदार्थ होने का भी अर्थ क्या है ? यह एक कठिन समस्या है। आदमी इस ओर ध्यान ही नहीं देता। ध्यान दिए विना यह सुलझे भी तो कैसे ?

71

कर्त्तव्य-बोध

सामाजिक स्वास्थ्य के लिए बहुत जरूरी होता है कर्तव्य-बोध और दायित्व-बोध। कर्त्तव्य की चेतना का जागरण और दायित्व की चेतना का जागरण। आखिर दंड और यन्त्रणा से कब तक कार्य चलेगा? क्या पूरे जीवन-काल तक आदमी नियत्रण मे रहेगा? क्या यह भय निरंतर सबके सिर पर सवार ही रहेगा? भयभीत समाज सदा रोगग्रस्त रहता है, वह कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। भय सबसे बडी बीमारी है। भय तब होता है जब दायित्व और कर्त्तव्य की चेतना नहीं जागती। जिस समाज में कर्त्तव्य और दायित्व की चेतना जाग जाती है उसे डरने की जरूरत नहीं होती।

जिन लोगों में दायित्व की चेतना जागृत हो जाती है, वे व्यक्ति उन बातों से ऊपर उठ जाते है। वे अपने चरित्र का निर्माण दायित्व के आधार पर करते हैं। जिन्हे दायित्व की अनुभूति हो जाती है, उन्हें दायित्व सौंपकर बदलने का प्रयत्न किया जाता है। लोग तो सोचते हैं कि यह व्यक्ति उसके योग्य नहीं था, फिर उस पर यह दायित्व क्या डाला गया? किन्तु, मैं यह अनुभव करता हूँ कि दायित्व डालने पर उस व्यक्ति में सचमुच परिवर्तन आ जाता है। परन्तु, दायित्व की अनुभूति अवश्य होनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति जिसे दायित्व का अनुभव न हो, उसमें भी परिवर्तन आने लग जाता है। चरित्र-निर्माण की दूसरी श्रेणी का हेतु है—दायित्व-बोध।

युवक शब्द भी एक कला की संज्ञा को सूचित करता है। यौवन दो अवस्थाओ के बीच एक शक्ति की अवस्था है। बालक मे क्षमताए होती है किन्तु विकसित नहीं होतीं, क्योंकि उसका शरीर-तंत्र समर्थ नहीं होता । बडे में शरीर-तंत्र और क्षमताए दोनो विकासातीत हो जाती हैं, विकास से परे चलने लग जाती हैं। उसके शरीर की बहुत सारी कोशिकाए, मस्तिष्क की बहुत सारी कोशिकाए खप चुकती हैं और शरीर का तंत्र शिथिल हो जाता है। उसमे अनुभव होते हुए भी कार्य-क्षमता समाप्त हो जाती है। इन दोनों के बीच की अवस्था है—यौवन। युवा दोनों के बीच मे है। उसमे शरीर की क्षमता भी है और क्रियान्विति की क्षमता भी है। इसीलिए युवक एक शक्ति की अभिव्यक्ति का स्रोत होता है। इसीलिए युवक से बहुत आशाए होती है। कोई भी देश, कोई भी समाज कार्यक्षमता का जहा प्रश्न है, वहा युवको को आगे रखता है। चाहे देश-रक्षा का कार्य हो, चाहे समाज सेवा का कार्य हो, चाहे और कोई दूसरा, तीसरा, चौथा कार्य हो, युवक की अपेक्षा होती है।

किन्तु, युवक के लिए भी बहुत कठिनाई है। कठिनाई इसलिए कि एक ओर उसके शरीर के सारे उपकरण बहुत सक्रिय होते है, रक्त भी बहुत तेज बहता है। दूसरी ओर दुनिया का वातावरण उसके प्रतिकूल भी हो सकता है और होता भी है। उन दोनो मे सामजस्य स्थापित करना, दोनो के साथ सगति जुटा लेना बहुत कठिन बात है और यही सघर्ष आज सारी दुनिया मे चल रहा है।

आज के साहित्य का एक शब्द है–'भोगा हुआ यथार्थ।' हमे केवल कल्पना के जीवन मे नही जीना है। युवक मे बहुत कल्पनाए उभरती है। उसका घरेलू पक्ष उसके अभिभावको के हाथ मे होता है। समाज का क्षेत्र कुछ पुराने कार्यकर्त्ताओ के हाथ मे होता है तो युवक के लिए कल्पना करने का बहुत अवकाश रहता है। किन्तु, आप निश्चित मानिए कि कल्पना तब तक अर्थवान् नही होती जब तक कि 'भोगे हुए यथार्थ' पर हम नही चल पाते। हमारा जीवन यथार्थ का होना चाहिए

कर्त्तव्यपरायणता की सबसे पहली शर्त है–निष्ठा और जागरूकता। जिस व्यक्ति की कर्तव्यपालन मे निष्ठा है, वह प्रमाद, अन्याय और मुफ्तखोरी जैसा कोई काम नहीं कर सकता। कर्त्तव्य-भावना की कमी का कारण राष्ट्रीय प्रेम की न्यूनता भी है। अपने राष्ट्र के प्रति उदात्त प्रेम होगा तो प्रमाद जैसी स्थिति को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलेगा। परिवार और अपने चरित्र बल के लिए भी व्यक्ति के कर्त्तव्य हैं। जैसे 'श्रमिक अणुव्रत' के विधान कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहने के लिए ही हैं। जिस श्रमिक का जीवन सस्कारी होता है, जिसमे किसी प्रकार का दुर्व्यसन नहीं होता, जो जुआ नहीं खेलता, बाल विवाह, मृत्यभोज जैसी सामाजिक कुरीतियो को प्रश्रय नहीं देता, अपने अर्जित अर्थ का सुरा, सिनेमा, सिगरेट आदि आदतो की पूर्ति के लिए अपव्यय नहीं करता, श्रम से जी नहीं चुराता और अपने दायित्व के प्रति जागरूक रहता है, वह श्रमिक कभी कर्त्तव्य-च्युत नहीं हो सकता। श्रमिक जीवन एक प्रशस्त जीवन-पद्धति ही नहीं, देश की बहुत बडी शक्ति है। श्रमिक अणुव्रत की धाराए इस शक्ति को चारित्रिक सम्पदा से परिमडित कर कर्त्तव्यपालन की अपूर्व क्षमता दे सकती है।

72

सरलता

दशवैकालिक सूत्र में चार आवेगो की प्रतिरक्षा भावना का सुन्दर निरूपण प्राप्त है। यदि क्रोध के आवेग को मिटाना है, कम करना है तो उपशम के सस्कार को पुष्ट करना होगा। क्रोध का प्रतिपक्ष है—उपशम। उपशम का सस्कार जितना पुष्ट होगा क्रोध का आवेग उतना ही क्षीण होता चला जाएगा। मान के आवेग को नष्ट करना है तो मृदुता को पुष्ट करो। मान का प्रतिपक्ष है मृदुता। माया के आवेग को नष्ट करना है तो ऋजुता के सस्कार को पुष्ट करो। ऋजुता और मैत्री मे कोई अन्तर नहीं है। मैत्री ऋजुता का ही प्रतिफल है। जब ऋजुता है तो किसी के साथ शत्रुता हो ही नही सकती। शत्रुता से पूर्व कुटिलता आती है। शत्रुता कुटिलतापूर्वक ही होती है। बिना कुटिलता के शत्रुता नहीं होती। जब छिपाने की बात, ठगने की बात आएगी तभी किसी के साथ अमैत्री का भाव होगा। जहाँ छिपाने जैसा कुछ भी नही, सरलता ही सरलता है, पारदर्शी स्फटिक-सा जीवन है, वहा शत्रुता हो ही नहीं सकती। माया का प्रतिपक्ष है ऋजुता। लोभ के आवेग को नष्ट करना है तो सतोष को विकसित करो, उसे पुष्ट करो। लोभ का प्रतिपक्ष है सतोष।

गौतम ने पूछा—'भन्ते! आर्जव से मनुष्य क्या प्राप्त करता है?'

महावीर ने कहा—'गौतम! आर्जव से मनुष्य काया की ऋजुता, भावो की ऋजुता, भाषा की ऋजुता और सवादी-प्रवृत्ति—कथनी और करनी की समानता को प्राप्त करता है।'

आर्जव का अर्थ है सरलता। सरलता वह प्रकाश-पुज है, जिसमे हम चारो ओर से देख सकते हैं। भगवान् महावीर ने कहा, 'निर्मलता उसे प्राप्त होती है, जो ऋजु होता है।' कपटी मनुष्य का मन कभी निर्मल नही होता। बच्चे का मन सरल होता है, इसलिए उसके प्रति सबका स्नेह होता है। हम जैसे-जैसे बडे बनते है, समझदार बनते हैं, वैसे-वैसे हमारे मन पर आवरण आते रहते है। आवरण अज्ञान का होता है। आवरण सन्देह का होता है। आवरण माया का होता है। हम दूसरे व्यक्ति को जानने का यत्न नही करते, इसलिए हमारा मन उसके प्रति सरल नही होता। हम दूसरे व्यक्ति के प्रति विश्वास नहीं करते, इसलिए उसके प्रति हमारा मन सरल नही होता। हम दूसरे व्यक्ति से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं, इसलिए उसके प्रति हमारा मन सरल नही होता। यदि इस दुनिया मे अज्ञान, सन्देह और कपट नही होता तो मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम की धारा बहती। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई दूरी नही होती। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से

विभक्त नही होता। एक संस्कृत कवि ने कहा–*'सन्धत्ते सरला सूची, वक्रा छेदाया कर्तरी'*–सूई सरल होती है, इसलिए जोडती है, दो को एक करती है और कैंची टेढी होती है, इसलिए वह काटती है। एक को दो करती है।

सरलता मनो को साधती है। माया कैंची का काम करती है, मनो के टुकडे-टुकडे कर डालती है।

एक बुढिया जा रही थी। सिर पर गठरी थी। उसी रास्ते से एक युवक जा रहा था। उसके मन मे करुणा का भाव आया। उसने बुढिया से कहा, 'दादी! कुछ देर के लिए गठरी मुझे दे दो। तुम्हे थोडा-सा विश्राम मिल जाएगा।' बुढिया ने उसका भाव देखा और गठरी उसे दे दी। थोडी देर बाद बुढिया ने गठरी फिर ले ली। युवक का मन बदल गया। उसने सोचा- गठरी मेरे पास थी। उसे लेकर मैं भाग जाता तो बुढिया मेरा क्या करती ? युवक ने फिर गठरी मागी। बुढिया ने वह नहीं दी। उसने फिर आग्रह किया तो बुढिया ने कहा, 'अब नही दूगी।' उसने पूछा, 'दादी! अब क्यो नही दोगी ?' बुढिया बोली–'बेटा! जो तुझे कह गया, वह मुझे भी कह गया।'

73

सहिष्णुता-1

सामुदायिक जीवन एक कठोर साधना है। जिसको साधना का अभ्यास नहीं है, वह समूह का जीवन नहीं जी सकता। अकेले मे न कोई शब्द, न कोई कलह और न कोई सघर्ष। एक से दो और दो से अधिक होते ही इन सब का प्रारभ हो जाता है। फिर प्रारभ होते हैं तनाव, वैमनस्य, वैर और विरोध। यह सामुदायिक जीवन का एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू है–सहयोग, सौमनस्य और उपयोगिता। इनका आधारभूत तत्त्व है–सहिष्णुता। सहिष्णुता सामुदायिक जीवन का एक अलकरण है। छोटे और बडे सभी कहते हैं–सहन करना सीखो। पर सहअस्तित्व, सापेक्षता और सामुदायिकता की चेतना जागे बिना सहिष्णुता फलित नहीं होती।

प्रश्न होता है–क्या अन्याय को भी सहन करें? न्याय को सहन करना भी कठिन काम है, फिर यह परामर्श कैसे दिया जाए कि आप अन्याय को सहन करें। यह परामर्श दिया जा सकता है कि न्याय के साथ अन्याय न करें। अन्याय का प्रतिकार करना आवश्यक है। वह सहिष्णुता के साथ ही किया जा सकता है। असहिष्णुता के साथ अन्याय का प्रतिकार करना एक अन्याय को जन्म देना है। अन्याय के प्रतिकार का निर्दोष उपाय है–सहिष्णुता का प्रयोग। अन्याय को सहन करना दुर्बलता है। अन्याय के प्रति अपनी ओर से अन्याय न हो–यह विवेक है। इस विवेक चेतना के द्वारा अन्याय का सही ढग से प्रतिकार किया जा सकता है। अन्याय का प्रतिकार एक समर्थ व्यक्ति ही कर सकता है। अत सहिष्णुता का अर्थ है–सामर्थ्यपूर्ण समायोजन।

सहिष्णुता का अर्थ है–शक्तिशाली होना। आदि से अत तक शक्तिशाली वही हो सकता है, जिसका अपने सवेगो पर नियत्रण होता है। अत सहिष्णुता का अर्थ है–सवेग पर नियत्रण। इसके अभाव में किसी को कोई सहन नहीं करता। शिष्य गुरु की सीख को सहन नहीं करता और पुत्र पिता की सीख को पसद नहीं करता। बया ने बन्दर को सीख दी–वर्षा हो रही है, काप रहे हो, एक झोपडी बना लो, फिर आराम से रह सकोगे। सीख अच्छी थी। बया जैसा छोटा प्राणी बन्दर को सीख दे, क्या यह ठीक है? बन्दर का पारा चढ गया। झोपडी तो नहीं बनाई। बया के घोसले को उजाड दिया।

बन्दर एक जानवर है। उसमें सवेग पर नियत्रण करने की क्षमता विकसित नहीं है और उसे नियत्रण का प्रशिक्षण भी नहीं दिया जा सकता। इसलिए वह ऐसा कर सकता है। क्या आदमी ऐसा नहीं कर सकता? जिस आदमी को सवेग नियत्रण का प्रशिक्षण

नहीं मिला है वह भी अच्छी सीख सुनकर अपने घर का निर्माण नहीं करता, सीख देने वाले के घर को उजाड सकता है।

सहिष्णुता का एक अर्थ है—असहयोग। न प्रवृत्ति और न निवृत्ति अपितु उपेक्षा करना। उपेक्षा का अर्थ है—असहयोग। गाधीजी ने असहयोग का आदोलन चलाया। शासनतत्र ठप्प हो गया। गाली के प्रति गाली देने का मतलब है गाली देने वाले का सहयोग करना। क्रोध के प्रति क्रोध करने का मतलब है क्रोध करने वाले का सहयोग करना। क्रोध करने वाले की उपेक्षा करो, उसका क्रोध आगे नहीं बढेगा। मौत का भय सबसे बडा भय है। जो मौत से डरता है, वह मौत का सहयोग करता है। जो मौत के भय से मुक्त हो जाता है, वह उसे सहयोग नहीं करता। सहयोग करने वाला मौत को जल्दी बुलावा देता है और असहयोग करने वाला पूर्ण आयु को जी सकता है।

सहिष्णुता का अर्थ है—सुधार के लिए अवसर देना। गुरु कभी-कभी शिष्य के अविनय को सहन कर लेते हैं। पिता कभी-कभी पुत्र की तुच्छता को सह लेता है। इसका अर्थ कमजोरी नहीं, सुधरने का अवसर देना है। जो बडे लोग सहन करना नहीं जानते वे सामुदायिक जीवन जीने की कला को नहीं जानते। वे परिवार या समुदाय को साथ लेकर चलना नहीं जानते।

सामुदायिक जीवन अपने आप में एक बडा प्रयोग है। कोई व्यक्ति हिमालय की गुफा मे अकेला बैठा है। वह अकेला ही है। वहा सहिष्णुता की कसौटी नहीं हो सकती। सहिष्णुता की कसौटी समाज मे होती है। जो समाज में रहे और अकेलेपन की अनुभूति के साथ जिए, वही सहिष्णु हो सकता है। अध्यात्म का सूत्र है—अकेलेपन की अनुभूति। उपाध्याय विनय-विजय ने उसका चित्रण इन शब्दो में किया है—

"एक उत्पद्यते तनुमानेक एव विपद्यते।
एक एव हि कर्म चिनुते, सैकैकः फलमश्नुते ।।"

—व्यक्ति अकेला आता है, अकेला जाता है। अकेला कर्म का सचय करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है। इस अध्यात्म-सूत्र मे रहना और व्यवहार में जीना—यही अनेकात है। हम रहें अपने आप में और जिए व्यवहार मे, तभी शात सहवास हो सकता है, सामुदायिक जीवन स्वस्थ बन सकता है।

अनेकात ने एक सूत्र दिया वैचारिक सहिष्णुता का। हमें बहुत सारे विचार विरोधी प्रतीत होते हैं। विरोधी विचार को सहन न करना हमारी प्रकृति बन गई और इसलिए बन गई कि हम अनेकात का मर्म नहीं जानते। हमें सत्य की पहचान भी नहीं है। अनेकात का तात्पर्य है विरोध न हो। कोई अविरोध भी ऐसा नहीं है, जिसके तल में अविरोध न हो। विरोध और अविरोध—दोनो एक साथ रहते हैं। इस अवस्था में हम केवल विरोध को पकडकर असहिष्णु क्यो बने ? महावीर ने दो नयो का प्रतिपादन किया—द्रव्यार्थिक और

पर्यायार्थिक। एक विचार है—आत्मा कर्म का कर्त्ता है और उसके फल का भोक्ता है। दूसरा विचार है— आत्मा कर्म का कर्त्ता है पर फल का भोक्ता नहीं है। दोनो विरोधी विचार हैं और दोनो ही सत्य हें। द्रव्यार्थिक नय इस दृष्टि को मान्यता देता है—कि जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। पर्यायार्थिक नय का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उसके अनुसार कर्म का कर्त्ता अन्य होता हे और उसे भोगने वाला कोई अनागत होगा।

नयवाद राग-द्वेष से मुक्त रहने का दृष्टिकोण हे। जहा सत्य हे, वहा राग-द्वेष के लिए अवकाश नहीं है। जहा राग-द्वेष हे, वहा सत्य के लिए अवकाश नहीं है। आदमी का आकर्षण राग-द्वेष में अधिक है, लडाई झगडो में अधिक है। कभी-कभी मै सोचता हूँ—यदि वैचारिक आग्रह नहीं होता, मान्यताओ की खींचातानी नहीं होती तो दिन और रात केसे वीतता। चौवीस घटे का समय बहुत वडा समय ह। नींद का समय अधिक से अधिक आठ घटा मान लें। दो घटे का समय शरीर-चर्या का और आठ घटे का समय काम-काज का, फिर भी छह घटे का समय शेप रह जाता है। यह कैसे बीतता ? राग-द्वेष की घुडदौड इतनी आकर्पक हे कि उसे देखते-देखते पलभर में समय बीत जाता है। आकर्पण इसके साथ जुडा हुआ हे, फिर सहिष्णुता की वात केसे आगे बढे ?

असहिष्णुता जिन्हें सता रही ह, मानसिक तनाव बढ रहा है, भावनाए उद्दीप्त हो रही हें, वे लोग शाति की खोज में निकल पडते हें। उनके लिए सहिष्णुता की साधना एक समाधान हे। सहिष्णुता के लिए दृष्टिकोण को सम्यक् बनाना जरूरी है। एक शिकारी शिकार करने गया। दृष्टि कमजोर थी सामने शिकार को देख गोली चलाई। अपने सहायक से पूछा—गोली किस जानवर पर लगी। सहायक बोला—महाशय! एक पेड पर लगी ह। दृष्टिकोण सही नहीं हे तो जानवर ओर पेड में कोई फर्क नहीं रहता।

सहिष्णुता का पहला सूत्र वनता हे—सम्यक् दृष्टिकोण। दूसरा सूत्र बनता है—सहसिका—एक साथ बेठना। समस्या को सुलझाने के लिए एक मच पर एक साथ बेठना आवश्यक होता है। तीसरा सूत्र हे—एक दूसरे को समझने का प्रयत्न। समझ की दूरी व्यक्तियो में दूरी पैदा कर देती है। पारस्परिक समझ दूरी मिटा देती है। व्यवस्था भग करने वाले की सहिष्णुता टूट जाती है। वह दूसरो की सहिष्णुता में भी बाधा पहुचाता है।

सहिष्णुता मानसिक शाति का दर्शन है। यही विश्वशाति का दर्शन है। व्यक्ति अशात हे तो विश्वशाति नहीं हो सकती। मन अशात है तो विश्वशाति नहीं हो सकती। सहिष्णुता की पहली भूमिका है—परिस्थितियो को झेलना। दूसरी भूमिका है-दूसरे व्यक्ति को सहन करना। तीसरी भूमिका है—अपने से भिन्न विचारो को सहन करना। चौथी भूमिका है- राग और द्वेप की तरगो का सामना करना, उनसे पराजित न होना। यह मार्ग राग से वीतरागता की ओर जाने का मार्ग है। जो व्यक्ति जितना वीतराग उतना ही अनेकाती। जो व्यक्ति जितना वीतराग, उतना ही अहिसक। जो व्यक्ति जितना वीतराग, उतना ही सहिष्णु। अनेकात, अहिसा और सहिष्णुता को कभी बाटा नहीं जा सकता।

74

सहिष्णुता-2

साधक को कष्ट-सहिष्णु बनना ही चाहिए। ध्यान की साधना करने वालों को, अभ्यास करने वालो को कष्ट से विचलित नहीं होना चाहिए। कष्ट सहने का भी प्रशिक्षण होना चाहिए। जहा दो-सौ व्यक्ति हों, वहा यदा-कदा अनेक प्रकार की कठिनाइया आ सकती हैं। यदि व्यवस्थापक वर्ग कठिनाइया नहीं आने देते तो यह उनकी व्यवस्था-निपुणता है, किन्तु कष्ट सहने का अवसर भी आना चाहिए। तभी साधको की कसोटी हो सकती है। जैसे व्यवस्थापको की कसोटी हे कि व्यवस्था को कितनी निपुणता से बनाए रखते हैं, वैसे ही साधको की यह कसोटी हे कि व्यवस्था मे कहीं न्यूनता होने पर भी वे कैसे उसको सहन करते हैं। प्रेक्षा-ध्यान की उपसम्पदा स्वीकार करते समय यह संकल्प किया जाता है कि मैं 'प्रतिक्रिया विरति' का अभ्यास करूगा। क्या कष्टो को सहन करने वाला व्यक्ति प्रतिक्रिया नहीं करेगा ? जो सहन करना नहीं जानता, वह प्रतिक्रिया से बच ही नहीं सकता। उसके मन में पग-पग पर प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रिया से वही व्यक्ति बच सकता है जो कष्ट-सहिष्णु है, जिसमें सहिष्णुता का विकास हुआ है।

हमारी सहिष्णुता का विकास होना चाहिए। सहिष्णुता का अर्थ है—सर्दी को सहना, गर्मी को सहना। सर्दी मौसम की भी आती है और सर्दी भावना की भी आती है। गर्मी मौसम की भी आती है और गर्मी भावना की भी आती है। अनुकूल कष्ट का नाम है सर्दी और प्रतिकूल कष्ट का नाम है गर्मी। जिस व्यक्ति ने अपने शरीर से सर्दी और गर्मी को नहीं सहा, वह कच्चा आदमी रह गया। जिस व्यक्ति ने अपने मानसिक जगत् में अनुकूलता को नहीं सहा, प्रतिकूलता को नहीं सहा, वह साधना के क्षेत्र में कच्चा आदमी रह गया। जब चाहो तब उसे दु खी बना सकते हो। कच्चे आदमी को दु ख दिया जा सकता है। जो पक जाता है उसे दु ख देना बडा कठिन होता है। जब तक मिट्टी का घड़ा कच्चा है, पक नहीं जाता तब तक काम का नहीं होता। न पानी रखा जा सकता है और न और कुछ रखा जा सकता है। उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। कच्चे पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। भरोसा पैदा होता है, पक जाने पर। मनुष्य भी जब तक कच्चा होता है तब तक उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। साधना की आच में अनुकूलता और प्रतिकूलता को झेलते-झेलते जो पक जाता है वह विश्वास करने योग्य बनता है, अन्यथा सत्तर वर्ष का आदमी भी अविश्वसनीय ही रहता है। बडी उम्र हो जाने से कोई विश्वासपात्र नहीं बन जाता है।

पकने के लिए दो आचो से गुजरना पडता है। एक अनुकूलता की आच और दूसरी प्रतिकूलता की आच। प्रतिकूलता की आच को सहना कठिन काम है तो अनुकूलता

की आच को सहना कठिनतम काम हे। जितना खतरा अनुकूलता से होता है, उतना खतरा प्रतिकूलता से नहीं होता।

प्रतिदिन साधनों की नई-नई खोजें हो रही हैं। इसे हम विकास की सज्ञा देते हैं। में भी अस्वीकार नहीं करता कि मनुष्य ने इस क्षेत्र में विकास नहीं किया हे। उसने विकास किया है ओर आज भी नए-नए आयाम खोज रहा है। किन्तु, यह कहे बिना भी नहीं रहा जाता कि पदार्थ जगत् में मनुष्य ने जो विकास था, उसे भी खोया है। आज कितना अधैर्य हे। असहिष्णुता अधीरता को जन्म देती हे। आज मानो कि मनुष्य में धृति हे ही नहीं, ऐसा लगता है। यदि मालिक नोकर को दो कडे शब्द कह देता है तो नौकर तत्काल कहता ह-यह लो तुम्हारी नौकरी, में तो चला। मालिक सोचता है नौकर चला गया तो क्या होगा ? वह स्वय नोकर से कहता ह-'चलो, आगे से कुछ नहीं कहूगा।' सारा चक्का उलटा घूम गया। प्राचीन काल में मालिक नोकर को कितना अनुशासन में रखता था ओर नोकर स्वामी का कितना विनय करता था। नोकर कितना सहिष्णु होता था। आज पिता पुत्र को कुछ भी कहने से पूर्व दस वार सोचता हे कि इस बात का पुत्र पर क्या असर होगा ? कहीं वह कुपित होकर घर से चला न जाए। आत्म-हत्या न कर ले। कभी-कभी वह पूरी वात कह भी नहीं पाता, अधूरी बात कहकर ही विराम कर लेता है।

एक अग्रेज ने महात्मा गाधी को पत्र लिखा। उसमें गालियो के अतिरिक्त कुछ था नहीं। गाधीजी ने पत्र पढा ओर उसे रद्दी की टोकरी में डाल दिया। उसमें जो 'आलपिन' लगा हुआ था उसे निकालकर सुरक्षित रख लिया। वह अग्रेज गाधीजी से प्रत्यक्ष मिलने के लिए आया। आते ही उसने पूछा-'महात्माजी! आपने मेरा पत्र पढा या नहीं ?' महात्माजी वोले-'वडे ही ध्यान से पढा हे।' उसने फिर पूछा-'क्या सार निकाला आपने ?' गाधीजी ने कहा-'एक आलपिन निकाला है। बस, उस पत्र में इतना ही सार था। जो सार था, उसे ले लिया। जो असार था, उसे फैंक दिया।'

व्यवहार की भूमिका में समता का पर्याय हे मैत्री। यह एक सापेक्ष सत्य है। किसी व्यक्ति के प्रति विरोध, अवहेलना, अनादर या आक्रोश का भाव जाग जाए, उससे क्षमा की याचना करना ओर अपने प्रति किसी दूसरे द्वारा किए गए व्यवहार के लिए क्षमा देना मैत्री हे। यह उन लोगों के लिए है जो व्यवहार के जगत् में जीते हैं। व्यवहार के धरातल से ऊपर उठे हुए व्यक्ति की मैत्री किसी के प्रति नहीं होती। उसका आदर्श होता है- 'मित्ती मे सव्वभूएसु'-विश्व के समस्त प्राणी, फिर वे कितने ही छोटे या बड़े क्यो न हो, उनके प्रति समत्व की अनुभूति। यह एक प्रकार की आत्म-शक्ति है। इसका विकास सबमें नहीं हो सकता। जिन्होने मैत्री की शक्ति का पूरा विकास कर लिया उनके लिए ससार में कोई अमित्र हो ही नहीं सकता। वे ऐसे अमृत का सिञ्चन करते हैं, जिससे शत्रुता का विष धुल जाता है और व्यक्ति अमृतमय बन जाता है।

75

प्राचीन विद्याएं

धर्म के क्षेत्र मे भी कई बे-सिर-पैर की क्रियाए चल रही ह। यह सव अवैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण हुआ है। यदि दृष्टिकोण वैज्ञानिक होता तो आज भी धर्म और अध्यात्म जैसा कोई कल्याणकारी तत्त्व मानव जाति के लिए दूसरा नहीं रहता। पर, इस अवैज्ञानिक दृष्टिकोण ने उस परम कल्याणकारी तत्त्व पर ऐसी परत चढा दी जिससे वह कोरा पीतल ही रह गया, सोने का मुलम्मा भी उस पर नहीं चढा। इससे वड़ी समस्या पैदा हुई है। चर्चा का एक सदर्भ है—ज्योतिष विद्या। बहुत लोग ज्योतिष मे विश्वास करते हैं। ज्योतिष एक विज्ञान है और एक सही विद्या हे। इससे हम प्रकृति मे होने वाले परिवर्तनो को जान सकते है। इसके द्वारा सौरमडल मे हाने वाली विकिरणो का अध्ययन किया जा सकता है और उसके आधार पर भूकम्प, अकाल, सुकाल आदि-आदि अनेक परिस्थितियो का ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है। इससे मानवीय प्रभावो को समझने मे भी बहुत सुविधा हो सकती है। उसके द्वारा मानव-प्रकृति का विश्लेषण किया जा सकता है। मानव पर पडने वाले प्रभावो का आकलन किया जा सकता है। एक छोटा-सा निदर्शन है—जैन परम्परा मे अष्टमी, चतुर्दशी आदि-आदि तिथियो मे हरियाली नही खाने का प्रचलन है। वैदिक परम्परा मे भी विभिन्न तिथियो मे विशेष ध्यान करने की विधिया प्रचलित हैं।

बात उस समय की है, जब मै बहुत छोटा था। एक भाई मेरे पास आया और बोला—'कितना अधविश्वास है। आप कहते है अष्टमी, चतुर्दशी को हरियाली मत खाओ, हरी सब्जी मत खाओ। इन तिथियो ने आपका क्या बिगाड़ा ? नवमी को खाए और अष्टमी को न खाए, यह भेदरेखा क्यो हुई ? मै चाहे नवमी को खाऊ या न खाऊ, अष्टमी को हरियाली जरूर खाऊगा।' मैंने उसकी बात सुनी और उसे बहुत समझाने का प्रयत्न किया। उस समय मेरा भी दृष्टिकोण जितना वैज्ञानिक होना चाहिए, उतना नहीं था। वह भाई भी नहीं समझ सका और मैं भी अपने आपको पूरा नहीं समझा सका कि अष्टमी और नवमी के साथ यह पक्षपात क्यो ?

जब ज्योतिष विज्ञान की दृष्टि से विषय को समझा तो स्पष्ट हो गया कि यह बहुत वैज्ञानिक बात है। ज्योतिष विज्ञान का एक सिद्धात है कि चद्रमा की कलाओ के घटने और बढ़ने के साथ मनुष्य के मन का बहुत गहरा सम्बन्ध है। चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा और अष्टमी—इन दिनो मे चद्रमा की कलाओ का घटना और बढना जारी रहता

है। वैसे ही हमारी मन की स्थितियो मे भी उतार-चढाव आता रहता है। इस विषय पर खोज हुई है कि दुर्घटनाए ज्यादा कब होती हैं ? पागलपन ज्यादा कब बढता है ? आदमी आत्महत्या कब करता है ? चद्रमा की कलाओ के साथ इन सबके सम्बन्ध का बहुत गहरा अध्ययन किया गया है। कुण्डली मे भी चन्द्रमा और मन की स्थिति का सम्बन्ध माना जाता हे। जब मन की स्थिति का अध्ययन करना होता है तो ज्योतिषाचार्य देखते है कि जातक की कुण्डली का चद्रमा कैसा हे ? मन और चन्द्रमा का बहुत गहरा सम्बन्ध है। समुद्र मे ज्वार-भाटा क्यो आता है ? पानी हे इसलिए ज्वार भाटा आता है। ज्वार-भाटे का भी चन्द्रमा की कला के साथ सम्बन्ध है। हमारा शरीर क्या है ? उसमें भी जल तत्त्व की प्रधानता है।

हमारे शरीर मे अस्सी प्रतिशत पानी है। यह पानी का ही पुतला है। लोग कहते हैं—यह हाड-मास का पुतला हे। यदि हाड-मास के पुतले की जगह पानी का पुतला कहा जाए तो ज्यादा अच्छा होगा। जब चन्द्रमा की घटती और बढती कला के साथ समुद्र मे ज्वार-भाटा आ सकता हे तो इस पानी के पुतले मे ज्वार-भाटा क्यो नहीं आएगा ?

इस सम्बन्ध मे अध्ययन किया गया तो एक रहस्य मेरे सामने आया—चद्रमा किस आसन पर ओर किस कोण पर हमारे सामने होता है तो हमारे मन पर क्या असर होता है ? यह एक वैज्ञानिक तथ्य है—चद्रमा अमुक-अमुक तिथियो मे हमारे सामने आता है ओर उन दिनो मे हमारे शरीर मे पानी बहता रहता है। अगर उन दिनो जल प्रधान चीजे खाते हें तो कई बीमारियो को पनपने का मौका मिल जाता है। उन तिथियो मे जलीय पदार्थों को कम खाना चाहिए, रूक्ष चीजे ज्यादा खानी चाहिए।

पडित रघुनदनजी सस्कृत के उत्कृष्ट कोटि के विद्वान् थे। आयुर्वेद के भी विद्वान् और अनुभवी चिकित्सक थे। वे बहुत बार कहते—चातुर्मास मे हरे साग नही खाने चाहिए। हमने पूछा—'पडितजी! ऐसा क्यो ?'

उन्होने कहा—'इस समय शरीर मे जल की प्रधानता रहती है। जल प्रधान सब्जियो को ज्यादा खाएगे तो वे जल को ही बढाएगी।' तथ्य सामने आते है तो लगता है कि पर्व-तिथियो में हरी सब्जी न खाने की परम्परा की पृष्ठभूमि मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण था, किन्तु हमने मात्र अंधविश्वास मान लिया, हमारा दृष्टिकोण अवैज्ञानिक हो गया। प्रस्तुत विषय मे खोज की जरूरत है। खोज करे तो सच्चाई सामने आएगी, अधविश्वास को अवकाश नहीं रहेगा। खोज करने का अवकाश नहीं होता है तो सच्चाई भी अधविश्वास बन जाती है।

वास्तु विद्या के अनुसार रात को दक्षिण की ओर पैर करके नही सोना चाहिए। ऐसा क्यो ? कहा गया—यह यमराज की दिशा है। इसलिए इस दिशा मे नही सोना

चाहिए। उत्तर की ओर सिरहाना नहीं करते और दक्षिण की ओर पेर नहीं करते। चुम्बक सिद्धात के सदर्भ मे इसका अध्ययन किया तो लगा कि यह वहुत वेज्ञानिक वात है। एक वैज्ञानिक ने इस बात पर वहुत विस्तार से प्रकाश डाला कि उत्तर की ओर सिर करके नही सोना चाहिए, क्योकि इससे हमारी शरीर की चुम्वकीय अवस्था गडवड़ा जाती हे। उसने कहा–सबसे अच्छा हे कि पूर्व दिशा मे सिर कर सोए। दक्षिण की ओर भी सिर किया जा सकता हे पर उत्तर की ओर सिर करके नहीं सोना चाहिए। यह अधविश्वास चलता है, किन्तु इसके पीछे भी एक वेज्ञानिक दृष्टिकोण हे। यदि हमारा दृष्टिकोण वैज्ञानिक न हो तो हम केवल अधविश्वास को पकड़ लेगे, सही वात को नहीं समझ पाएगे।

ज्योतिष का मतलब केवल फलित बताना अथवा कुण्डली वनाना नहीं हैं। यह तो एक धधा जैसा बन गया। एक सोठ का गाठिया लेकर पसारी बनने जेसी वात हो गई। इसीलिए अनेक समस्याए भी पैदा होती ह। एक युवक ज्योतिषी के पास गया और बोला–'मेरा हाथ देखो।' ज्योतिपी ने हाथ देखा, कहा–'चिन्ता मत करो। जल्दी ही तुम्हारी शादी होने वाली है।' यह कहकर ज्योतिषाचार्य ने उसके सिर पर हाथ रखा। युवक बोला–पडितजी! मेरी शादी तो बहुत पहले ही हो चुकी हे।' ऐसे ज्योतिषाचार्यो ने ज्योतिष विद्या को पगु बना दिया।

ज्योतिष विज्ञान का सम्बन्ध सौर विकिरण से भी हैं। सौरमडल से आने वाले विकिरणो का, अतग्रहीय विकिरणो का प्राणियो पर क्या प्रभाव होता है, इसका गहरा अध्ययन किया जाए तो अनेक नए तथ्य सामने आ सकते हैं, इसकी वैज्ञानिकता का साक्षात्कार हो सकता है।

मत्र विद्या भी एक बहुत बड़ा विज्ञान रहा है। जब सत्य की खोज की प्रवृत्ति बद हो जाती है, खिड़किया और दरवाजे बंद हो जाते हैं तब विज्ञान भी हमारे लिए अज्ञान जैसा बन जाता है। कितना बडा विज्ञान था मत्र विद्या का। हमारा दृष्टिकोण भिन्न हो जाने के कारण हमने उसको अज्ञान के साथ स्वीकार किया। कभी उसके रहस्यो को खोजने का प्रयत्न नहीं हुआ। वैज्ञानिक की सबसे बड़ी विशेषता है सत्य को खोजने की मनोवृत्ति और प्रयत्न। एक वैज्ञानिक कभी नहीं कहेगा कि अतिम खोज हो चुकी है। यह दृष्टिकोण बहुत प्रशस्त है और आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए अनुकरणीय है।

प्रकम्पन के सिद्धात की खोज हुई। इससे मत्र विद्या की बात बहुत समझ में आ जाती है। ध्वनि के प्रकम्पन किस प्रकार प्रभावित करते है और ध्वनि प्रकम्पनो के द्वारा आज क्या-क्या काम हो रहा है। ध्वनि प्रकम्पनो के द्वारा किसी को सुलाया भी जा सकता है और किसी को रुलाया भी जा सकता है। आज शस्त्र और गणित के बारे मे शोध करने वाले वैज्ञानिक इस रहस्य की खोज मे है कि शत्रु की सेना को सुला दिया

जाए, उसको मूर्च्छित कर दिया जाए। लडाई की अपेक्षा ही नहीं रहे। प्राचीनकाल में यह विद्या विकसित थी। इस विद्या का नाम था अवस्वापिनी। प्रभव चोर जबू के घर मे चोरी के लिए गया। उसने जबू से कहा–'कुमार! ये मेरी दोनो विद्याए आप ले लो ओर आपकी विद्या मुझे दे दो।' इस प्रसग की बहुत लबी चर्चा हे, किन्तु उसका निष्कर्ष है–मत्र के द्वारा, ध्वनि प्रकम्पनो के द्वारा चामत्कारिक प्रभाव हो सकता हे।

आज का धार्मिक इन सब बातो को भूलता जा रहा है ओर आज का वैज्ञानिक खोजता चला जा रहा है। आज दृष्टिकोण को वेज्ञानिक ओर अपने भावों को आध्यात्मिक बनाने की जरूरत हे। 'आध्यात्मिक वेज्ञानिक व्यक्तित्व' अध्यात्म से सराबोर और ओत-प्रोत होगा, उसका दृष्टिकोण वेज्ञानिक होगा। जहा भाव आध्यात्मिक नहीं होता ओर दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं होता, वहा अनर्थ की सम्भावना बनी रहती हे।

76

शिक्षा के आयाम

शिक्षा प्रत्येक विकास की अधिष्ठात्री रही ह। शिक्षा का मूल अर्थ है–अभ्यास। आज यह अर्थ विस्मृत हो गया है। आज शिक्षा का अर्थ ह–अध्ययन। अभ्यास दो प्रकार का होता है-ग्रहणात्मक अभ्यास ओर आसेवनात्मक अभ्यास। पहले ग्रहण करो, जानो ओर फिर उसका आसेवन करो, प्रयोग करो। शिक्षा इन दो चरणों म चलती थी। शिक्षा का पहला चरण था 'ग्रहण' ओर दूसरा चरण था 'आसेवन'। जानना भी शिक्षा है, पर जानना मात्र ही शिक्षा नहीं है। आसेवन भी शिक्षा है ओर यह शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अग है। धर्म की शिक्षा प्राप्ति के लिए भी यही क्रम है ओर वोद्धिक शिक्षा प्राप्ति के लिए भी यही क्रम है।

पतञ्जलि से पूछा गया–चित्त का निरोध केसे होता ह?

उन्होंने कहा–चित्त-निरोध के दो उपाय हें–अभ्यास ओर वेराग्य।

अर्जुन ने कृष्ण से पूछा–मन का निरोध केसे हो सकता ह?

कृष्ण ने कहा–पार्थ! अभ्यास ओर वेराग्य के द्वारा मनोनिग्रह साधा जा सकता है।

आज अभ्यासात्मक शिक्षा छूट गई, ज्ञानात्मक शिक्षा वच गई। शिक्षा का एक चरण टूट गया। वह लगडी हो गई। इसलिए शिक्षा का जो परिणाम आना चाहिए था, वह नहीं आ रहा है।

मनुष्य की तीनों वृत्तियो–जिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षा का माध्यम है शिक्षा। जिज्ञासा का समाधान शिक्षा के द्वारा होता है। बुभूषा का समाधान शिक्षा के द्वारा होता है और चिकीर्षा का समाधान भी शिक्षा के द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में, करने का कोशल शिक्षा से प्राप्त होता है। होने या बदलने का पराक्रम भी शिक्षा के द्वारा प्राप्त होता है और जानने का माध्यम भी शिक्षा से ही प्राप्त होता हे। जिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षा के क्षेत्र को भी जानना आवश्यक है। जानने का क्षेत्र क्या है? होने का क्षेत्र क्या है और करने का क्षेत्र क्या है? हम क्षेत्र पर विचार करें।

शिक्षा के चार आयाम हैं–शारीरिक विकास, मानसिक विकास, बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास। इन चारों मे व्यक्तित्त्व-निर्माण से सम्बन्धित सभी विकास समाविष्ट हैं। अब इस सदर्भ में हम वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर विमर्श करें। हम यह सोचें कि वर्तमान में प्रचलित शिक्षा का क्रम कैसा है? शिक्षा की प्रणाली कैसी है? आज की शिक्षा-प्रणाली को दोषपूर्ण कहना सगत नहीं लगता। जो चल रही है वह अपने आप में कृतकृत्य है। हम किसी भी वस्तु को दोष या गुण के माध्यम से समीक्षित करना चाहें तो

हमें परिणाम और निष्पत्ति पर विचार करना ही होगा। आज शिक्षा की जो निष्पत्तिया प्रत्यक्ष हो रही हैं, उन्हें देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि आज की शिक्षा कोई फल नहीं दे रही ह। जिस विषय को आज शिक्षा दी जा रही ह, उसकी निष्पत्तिया आ रही हैं। आज अच्छे डाक्टर, अच्छे वकील, अच्छे इजीनियर, अच्छे शिक्षक अपने-अपने विषय में निष्णात होकर समाज मे आ रहे हैं। इस स्थिति मे हम कसे मानें या कहें कि शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण ह, त्रुटिपूर्ण ह? जब निष्पत्तिया ठीक हैं तो हम कसे स्वीकार करें कि शिक्षा सही नहीं ह? फिर, प्रश्न होता ह कि शिक्षा की समस्या क्या ह?

वस्तुत , हमारी शिक्षा-प्रणाली सतुलित नहीं ह। सतुलित शिक्षा-प्रणाली वह होती हे जिसमें व्यक्तित्त्व के चारों आयाम सतुलित रूप से विकसित होते हैं। शरीर का विकास भी अपेक्षित ह, मन का विकास भी अपेक्षित ह तथा बुद्धि और भावना का विकास भी अपेक्षित ह। आज की शिक्षा मे इन चार आयामों में से दो आयामो पर अधिक ध्यान दिया जा रहा ह। वे दो आयाम हैं—शारीरिक विकास का आयाम और बौद्धिक विकास का आयाम। शेष दो आयाम उपेक्षित पडे हैं। आज शारीरिक विकास बहुत हुआ ह और बौद्धिक विकास भी प्रतिदिन बढ रहा ह, किन्तु मानसिक विकास और भावनात्मक विकास—ये दोनों अविकसित रह रहे हैं। शिक्षा-प्रणाली का यह असतुलन ह। इस असन्तुलित शिक्षा-प्रणाली की निष्पत्तिया क्या हैं, इस पर भी हम विचार करें।

77

भावनात्मक स्वास्थ्य

शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम दोनों में सतुलन बना रहे यह आवश्यक है। मस्तिष्क को सक्रिय रखने के लिए मानसिक श्रम बहुत आवश्यक है तो शरीर को स्वस्थ रखने के लिए मासपेशीय-श्रम बहुत आवश्यक है। दोनों का सतुलन बना रहे। उस सतुलन की दृष्टि से योगासनो का बहुत मूल्य है। योगासन सतुलन बनाते हैं। वे मासपेशियों को भी स्वस्थ बनाते हैं और साथ-साथ मस्तिष्क को भी स्वस्थ बनाते हैं। दोनों में सतुलन रहता है।

हमें हिसा और अहिसा की चर्चा करनी है। हिसा ओर अहिसा का आसनों से क्या सबध है? इस सबध को खोजना है। हमारे शरीर में बहुत प्रकार के एसिड बनते हैं। उनकी मात्रा बढती है तो सतुलन बिगडता है ओर आदमी की मनोवृत्ति बदल जाती है। वह क्रोधी, अपराधी और क्रूर-हत्यारा तक बन सकता है।

योगासन के द्वारा एसिडो में सतुलन स्थापित किया जा सकता है। कुछ वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके देखा है कि सतुलन स्थापित करने में ये बहुत उपयोगी हैं। जब हमारे रक्त में, मस्तिष्क में, मूत्र में एमिनो-एसिड की मात्रा बढ जाती है तो आदमी हिसक बन जाता है, क्रूर बन जाता है और हत्यारा बन जाता है। इनकी मात्रा में सतुलन स्थापित करना योगासन से सभव है। आसनों से वैसा किया जा सकता है और वह सतुलन होता है तो आदमी सतुलित हो जाता है। हिसा की मनोवृत्ति पैदा करने में इन एसिडो का बहुत बडा हाथ है। कुछ रसायन और ये एसिड आदमी को उग्र बना देते हैं।

हम अहिसा की दृष्टि से विचार करें और यह सोचें कि किस प्रकार व्यक्ति को अहिसक बनाया जा सकता है? एक बीमार आदमी की जाच की जाती है, निदान किया जाता है कि बीमारी क्या है? उस निदान के लिए अनेक यत्र हैं। वैसे ही मानसिक स्वास्थ्य और भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए हमें निदान करने की जरूरत है। क्या-क्या कारण हैं, कौन-कौन से हेतु हैं और कौन-कौन से तत्त्व अधिक सक्रिय हो गए हैं, जिनके कारण यह बच्चा या वह युवक क्रूर बन गया, उग्र बन गया, अपराधी बन गया, हत्यारा बन गया। इन सारे कारणों की खोज जरूरी है। यदि निदान ठीक हो गया तो उपचार ठीक किया जा सकेगा। बीमारी कुछ होती है, निदान कुछ होता है और इलाज कुछ हो तो कुछ बनता नहीं है। सही बीमारी और सही निदान हो तो ही काम चल सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य ओर भावनात्मक स्वास्थ्य के वारे में भी वहुत भ्रातिया चल रही हें। ठीक निदान नहीं हो रहा है। ठीक निदान हो ओर ठीक कारणों का पता लगा सके तो कोई कारण नहीं कि हिसा वढे, अपराध बढे ओर हत्याए बढें। सही निदान नहीं हो रहा हे ओर सही उपचार नहीं हो रहा हे। मानसिक स्वास्थ्य विगडता जा रहा हे, भावनात्मक स्वास्थ्य विगडता जा रहा हे, अपराध ओर हत्याए वढती जा रही हें। निदान ओर उपचार की जरूरत है। उस उपचार में योगासनों का स्थान वहुत महत्त्वपूर्ण हे।

हमारे शरीर में कुछ ऐसे सूक्ष्म रसायन हें, जो हमारे विचारों ओर भावों को प्रभावित करते हैं। पिच्यूटरी, पिनियल, थायरायड ओर एड्रीनल—इन चार ग्रथियो के स्राव बहुत प्रभावित करते हें। इनका स्राव वहुत थोडा-सा होता हे। इतना थोडा कि जिसका कोई पता ही नहीं चलता। किन्तु, ये स्राव हमारे विचारो, भावों को वहुत प्रभावित करते हें। इनमें असंतुलन होता ह तो सारी मानसिक ओर भावनात्मक व्यवस्थाए गडवडा जाती हें। इन पर नियत्रण करने के लिए योगासनो का वहुत ज्यादा मूल्य है।

वहुत लोग केवल पाचन-तत्र, श्वसन-तत्र आदि-आदि को ठीक करने के लिए योगासन करते हें। वे चाहते हें कि पाचन ठीक हो, श्वास की प्रणाली ठीक हो ओर रक्त-संचार ठीक होता रहे। इन दृष्टियों से योगासन करते हें। यह कोई गलत बात नहीं है। हर आदमी शरीर को स्वस्थ रखता चाहता हे। यह आवश्यक भी हे, किन्तु हम भुला देते हैं इस वात को कि शरीर का जितना मूल्य ह उससे ज्यादा मूल्य हे मन का ओर उससे भी ज्यादा मूल्य हे—भावों का। शरीर का सचालन भाव करते हैं। भाव का सबसे ज्यादा मूल्य हे। मन का सचालन भी भाव करते हें। हम भाव पर जव ध्यान देते हैं, भावात्मक स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं देते हें तो शारीरिक स्वास्थ्य वहुत कमजोर बन जाता हे।

एक आदमी वहुत हट्टा-कट्टा हे। किसी ने आकर एक सवाद दे दिया, तुम्हारा एकलोता वेटा दुर्घटनाग्रस्त हो गया। उस समय क्या होता हे? शरीर तो बहुत मजबूत है, वहुत हृष्टपुष्ट है, पर उस सवाद से उसका सारा शरीर ढीला पड जाता है, पैर उठते नहीं, हाथ कापने लग जाते हें, दिमाग चकरा जाता हे। सारा शरीर लडखडा जाता है। शरीर इतना मजवूत था, क्या हुआ? शरीर अव भी वैसा ही है, कोई फर्क नहीं आया। शायद आधा किलो वजन भी नहीं घटा है। उतना ही शरीर, किन्तु भाव-तत्र थोडा-सा गडबडाया और शरीर लडखडा गया। शरीर का सचालक है भावतत्र और दूसरे नबर पर है भावतत्र द्वारा सचालित मानसतत्र। ये शरीर के सचालक हैं।

लोग भी बडे अजीब हैं कि जो मूल सचालक है उस ओर ध्यान कम देते हैं और जो सीधा दिखता है उस ओर ध्यान ज्यादा जाता है। पहले आता है उसकी ओर हमारा ध्यान ज्यादा जाता है और जो पीछे आता है उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। यह बडी अजीब दुनिया है और अजीबोगरीब है हमारी मनोवृत्ति। इस मनोवृत्ति को बदलना भी

बहुत जरूरी है। भावतत्र शक्तिशाली होता है तो आदमी के सारे कार्य ठीक हो जाते हैं। भावतत्र को कैसे मजबूत बनाए, कैसे शक्तिशाली बनाए, यह प्रश्न है।

एक बडी मार्मिक घटना है, कल्पना से बाहर की बात है। एक बडा व्यापारी था। उसका इकलौता बेटा पढने जा रहा था। तेज रफ्तार से कार आई, बच्चे को कुचल कर निकल गई। कोर्ट में केस चला। पिता का नबर आया गवाही के लिए। पिता बहुत सतुलित आदमी था। उसने चितन किया, मेरा लडका तो चला गया, वह तो वापस आने का नहीं। ड्राइवर को कडी सजा होगी, इसका परिवार आधारहीन हो जाएगा। मुझे जितना कष्ट हुआ है, इस के परिवार को भी उतना ही कष्ट होगा। एक सवेदनशीलता का धागा जुडा। उसने सवेदना के स्तर पर चितन किया और सोचा कि हुआ सो हो गया। मुझे इसको बचा लेना चाहिए। न्यायाधीश ने पूछा, बताओ कैसे हुई दुर्घटना ? व्यापारी ने कहा, दुर्घटना हुई है। इसमें ड्राइवर का कोई दोष नहीं है। यह कार बिलकुल ठीक चला रहा था। लडके की ही गलती थी। वह दौड कर कार के सामने आ गया और मर गया। बात समाप्त। ड्राइवर बिलकुल बच गया। क्या ऐसा होना सभव है ? क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि बाप का इकलौता बेटा ड्राइवर की गलती से कुचल गया और बाप ही यह साक्षी देता है कि ड्राइवर की कोई गलती नहीं थी। यह सभव नहीं है। सतुलित व्यक्ति ही केवल ऐसा कर सकता है।

यह सतुलन अत स्रावी ग्रथियो के स्राव-सतुलन से पैदा हो सकता है। उन पर हमारा नियत्रण हो। उन्हें नियत्रित करने मे योगासनो का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। एड्रीनल ग्लेण्ड उत्तेजना के लिए काफी काम करती है। उस पर नियत्रण हो तो काफी सतुलन हो जाता है। शशाकासन एक आसन है। इसे करने से एड्रीनल पर नियत्रण पाया जा सकता है। वह नियत्रण को काफी सतुलित बना देता है।

78

आहार का विवेक

आहार जीवन का आधारभूत तत्त्व है। आहार के विषय में विमर्श होता रहा है। इस विमर्श के अनेक कोण रहे हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से आहार पर विचार किया गया कि स्वस्थ व्यक्ति का आहार कैसा होना चाहिए? इस पर बहुत सूक्ष्मता से चिन्तन हुआ। ऋतु के आधार पर भी मीमासा प्राप्त है। सर्दी की ऋतु का आहार एक प्रकार का होता है और गर्मी की ऋतु का आहार भिन्न प्रकार का होता है। वर्षा ऋतु का आहार इन दोनो से भिन्न प्रकार का होता है। इससे भी सूक्ष्म विचार किया गया कि ये तो वर्ष मे आने वाली तीन ऋतु हैं, पर एक दिन मे भी ये तीनो ऋतुए आती है, प्रात काल का आहार कैसा होना चाहिए? मध्याह्न का आहार कैसा होना चाहिए? सायकालीन आहार कैसा होना चाहिए? इस प्रकार अनेक पहलुओ से आहार पर चिन्तन किया गया। आहार का सबध ब्रह्मचर्य के साथ भी जोडा गया। विचार किया गया कि ब्रह्मचारी का आहार कैसा होना चाहिए? सात्विक वृत्ति में जीने वाले का आहार कैसा होना चाहिए? व्यक्ति की भावानात्मक धारा को सात्विक रखने मे कौन-सा आहार उपयोगी होता है? इन सब आधारो पर आहार के विषय में अनेक विधिया ओर वर्जनाए दी गई। बताया गया—अमुक प्रकार का भोजन करना चाहिए और अमुक प्रकार का भोजन नहीं करना चाहिए।

आहार की यह प्रस्तुत चर्चा मैं न स्वास्थ्य की दृष्टि से कर रहा हूँ और न ब्रह्मचर्य की दृष्टि से कर रहा हूँ। मेरे सामने चर्चा का एकमात्र पहलू है अहिसा। हमें खोज करनी है कि आहार और हिसा में तथा आहार ओर अहिसा में क्या सबध है? सबध की यह खोज महत्त्वपूर्ण पहलू है। आदमी जो भोजन करता हे, उससे शरीर में अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं। भोजन से मस्तिष्क में न्यूरो-ट्रासमीटर बनते हैं, जो तत्र के सप्रेषक होते हैं। इनसे मस्तिष्क शरीर का सचालन करता है। वैज्ञानिको ने चालीस प्रकार के न्यूरो-ट्रासमीटर्स का पता लगा लिया हे। ये सारे भोजन से बनते हैं। भोजन से एमिनो-एसिड आदि अनेक प्रकार के एसिड बनते हैं। यूरिक एसिड जहर है। वह भी भोजन से बनता है। हमारी प्रवृत्ति और भोजन के लिए अनेक विषैले तत्त्व शरीर में बनते हैं। अत , इस बात को जानना होगा कि किस प्रकार का भोजन करने से क्या बनता है? जिस भोजन से विष अधिक बनता है, वैसा भोजन करने पर मानसिक समस्याए पैदा होती हैं, भावनात्मक उलझनें बढती हैं, हिसा की वृत्ति बढती है।

प्राचीन काल में भोजन के इस पहलू पर बहुत विचार किया गया कि क्या खाने से क्या होता है। आज के वैज्ञानिको ने इस पहलू के साथ-साथ दूसरे पहलू पर भी बहुत

ध्यान दिया है कि किस प्रकार के भोजन की पूर्ति न होने पर क्या होता है? दोनों पहलू हमारे सामने हैं—1 किस वस्तु के खाने से क्या होता है? 2 किस वस्तु की पूर्ति न होने पर क्या होता है? एक प्राचीन पहलू है और एक नया पहलू है।

एक आदमी बहुत चिडचिडा है। चिडचिडा क्यो है, इसकी खोज करने पर पता लगता है कि उसमे विटामिन 'ए' की कमी है। प्रति सौ क्यूबिक सेंटीमीटर में चीनी की मात्रा 90 से 110 मिलीग्राम होनी चाहिए। इतनी आवश्यक होती है। जिसमें इससे कम चीनी होती है, उसके शरीर पर असर आ जाता है। यदि अधिक कम होती है तो भावनात्मक असर आता है। उसका स्वभाव बिगड जाता है। यहा तक कि वह आदमी हत्यारा बन जाता है। आज की खोज के सदर्भ में यह नई बात सामने आयी है। शरीर में चीनी की, नाइटिन की या विटामिन की कमी होती है तो आदमी हत्यारा या चिडचिडा बन जाता है। अनेक आदमी निराशा से ग्रस्त हो जाते हैं। यह रसायनो की कमी के कारण होता है।

आदमी डरता है। वह निरन्तर भयग्रस्त रहता है। भय लगने के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें एक कारण है—विटामिन 'बी' की कमी। इस प्रकार अनेक रसायन भय, अवसाद, हत्या आदि वृत्तियो को पैदा करने वाले होते हैं। आजकल एक विशेष रसायन पर बहुत खोज हो रही है, वह है 'ट्रिप्टोफेन।' यह 'सेरोटोनिन' का निर्माण करता है। आदमी का 'मूड' बिगडता है। इसका मूल कारण है ट्रिप्टोफेन की कमी या सेरोटोनिन की कमी। यदि यह तत्त्व पर्याप्त मात्रा मे होता है तो न मूड बिगडता है और न भय लगता है। इससे पीडा सहन करने की क्षमता भी बढती है। यदि ट्रिप्टोफेन और सेरोटोनिन की मात्रा पर्याप्त रूप में होती है तो सहन करने की क्षमता बढती है, पीडा को सहने की शक्ति बढती है।

मासाहार के विषय में एक तर्क सामने आता है कि मास और अण्डे में प्रोटीन बहुत होता है। इस प्रोटीन की अधिक मात्रा ने मनुष्य को अधिक बीमार बनाया है। उसके मानसिक सतुलन को बिगाडा है। उसे मानसिक रोगो से आक्रात किया है। अधिक मात्रा में व्यवहृत प्रोटीन लाभप्रद नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक दिन में 10-15 ग्राम प्रोटीन आवश्यक होता है। पर मासाहार करने वाले या अण्डा खाने वाले अधिक प्रोटीन खाते हैं, वह लाभप्रद नहीं होता।

शरीर के लिए कुछ प्रमुख तत्त्वो की आवश्यकता है, जैसे—प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट आदि। प्रोटीन आवश्यक है, किन्तु आज का भोजन ही प्रोटीनमय बन गया है। इसीलिए अनेक बीमारिया पनपने लगीं है। घुटने का दर्द भी अधिक प्रोटीन के सेवन से होता है। अधिक प्रोटीन की लालसा ने व्यक्ति को मासाहार की ओर प्रेरित किया है। आज विद्यालयो में बच्चे को प्रारभ से ही सिखाया जाता है कि अडो में प्रोटीन अधिक रहता है, उससे स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

आज आहार के विपय में नई-नई खोज सामने आ रही हें। उनसे भ्रातिया टूटी हें और टूटती जा रही हैं। आज माना जाने लगा हे कि अधिक प्रोटीन खाना हानिकारक हे। अडे का और मास का सेवन करना बीमारी को निमत्रण देना हे। यह भोजन बीमारिया ही नहीं बढाता, भावनात्मक स्थिति को भी विगाड देता ह। भावनात्मक स्थितियो की गडवडी में दो मुख्य तत्त्व हें—मासाहार ओर मादक वस्तुओं का सेवन।

आज की एक बीमारी हे—मज्जाक्षय। इससे हड्डिया इतनी जल्दी टूट जाती हें, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। पेर फिसला, गिरा ओर हड्डी टूटी। इसका मूल कारण है मज्जाक्षय। हड्डी का सार तत्त्व हे—मज्जा। यह कमजोर होती जा रही हे। मज्जाक्षय के दो बडे कारण हें—भावनात्मक असतुलन ओर अतिश्रम। अति कामुकता ओर अति क्रोध भी मज्जाक्षय के कारण हें। क्रोध के आवेश में मासपेशियो का सकुचन ओर फेलाव होता हे। इससे मज्जा का क्षय होता ह। वर्तमान व्यक्ति में जो भावनात्मक असतुलन हे, उसका आहार भी एक मुख्य घटक ह। व्यक्ति के आहार में वे पदार्थ अधिक हें जो भावात्मक असतुलन पदा करते हें।

आहार के तीन प्रकार हें—राजसिक आहार, तामसिक आहार ओर सात्विक आहार। जीवन का भोजन के साथ गहरा सवध हे। इसीलिए कहा गया—जेसा खावे अन्न, वेसा होवे मन। अन्न ओर मन का सवध गहरा ह। दूसरे शव्दो में, अन्न ओर भावो का गहरा सम्वन्ध ह। इसीलिए भोजन सवधी अनेक वर्जनाए की गईं। तामसिक भोजन नहीं करना चाहिए, मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए, प्याज-लहसुन आदि का वर्जन करना चाहिए। मास ओर मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिए, आदि-आदि। योद्धाओं और हिसको के लिए मांस-मदिरा की छूट थी, क्योकि क्रूर हुए बिना दूसरो का कत्लेआम नहीं किया जा सकता। योद्धा को क्रूर होना होता हे तभी वह अपने शत्रुओ को घास की भाति काट सकता हे। उनके लिए तामसिक आहार की उपयोगिता बताई गयी। सात्विक आहार करने वाले के मन में करुणा जाग जाती हे, वह दूसरे को मार नहीं सकता।

मास-मदिरा का उपयोग सीमित दायरे में था, पर आज यह समाजव्यापी बन गया। सभी क्षत्रिय ओर योद्धा वन गए हें। यह सभी में चल पडा, इसलिए बहुत हानि हुई। अहिसा के प्रश्न पर यह विचार हम केवल धर्म की दृष्टि से नहीं, किन्तु शुद्ध वेज्ञानिक दृष्टि से कर रहे हैं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह हे कि किस प्रकार के भोजन से शरीर में क्या-क्या रसायन बनते हें, एसिड बनते हैं ? कौन-कोन से विष किस-किस प्रकार की वृत्ति पैदा करते हैं ? आदमी थोडा-सा श्रम करता हे और थक जाता है। यह थकान श्रम करने से नहीं आती, शरीर में सचित जहरीले द्रव्यों के कारण आती हे। जब यूरिक एसिड का

जमाव अधिक होता है, आदमी थोड़े से श्रम से ही थककर चूर हो जाता है। शरीर की रक्त-प्रणालियो में एसिड जम जाता है और वह रक्त के सचार में अवरोध पैदा करता है। इन विष-द्रव्यो को शरीर मे जमा न होने देना—यह है अहिसा और आहार का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र।

सबसे पहले यह सावधानी बरतनी होगी कि विष-द्रव्य कैसे कम हों, अधिक मात्रा मे न बढें। दूसरी बात यह हो कि जो विष-द्रव्य जमा हो जाते हैं, उनको कैसे निकालें। इस सदर्भ में आहार के दूसरे पहलू पर विचार करना होगा। वह पहलू है—अनाहार, उपवास। उपवास आहार का ही एक पहलू है। खाना और न खाना—दोनों जुडे हुए हैं। विष-द्रव्यो के निष्कासन का सबसे अच्छा उपाय है उपवास। यह धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है और भावनात्मक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

भगवान महावीर ने कहा—

'रसापगाम न निसेवियव्वा, पाय रसा दित्तिकरा नराण।
दित्त च कामा समभिद्दवति, दुम जहा साउफल व पक्खी।।'

—रसो का—दूध, दही, नवनीत, चीनी आदि का—अधिक सेवन नहीं करना चाहिए। ये रस विकार पैदा करते हैं, आदमी को दृप्त बनाते हैं। जहा दृप्ति होती है, वहा कामवासनाए उभरने लगती हैं और वे व्यक्ति को पीडित करती हैं, जैसे स्वादु फल वाले पेड को पक्षी पीडित करते हैं।

79

योगासन

सारे ससार के इतिहास में जितने भी बडे-बडे युद्ध हुए हैं, वे कोई बडी बात को लेकर नहीं हुए। छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर महायुद्ध ओर विश्वयुद्ध हुए हैं। दो विश्व युद्ध हो गए। इनके पीछे कौन-सी बडी घटना थी ? प्राचीनकाल में हजारों-हजारों वर्षों में, अनेक वडे-वडे युद्ध हुए हें। कोई वडी बात नहीं, छोटी बात के आधार पर बडी लडाइया लडी गई। वडी वात इतनी साफ होती हे कि उसके लिए लडने की कोई जरूरत नहीं होती। बडी बात की लडाई तुरत समाप्त हो जाती है। पर, 'कोमा' की लडाई, अर्द्ध-विराम की लडाई वडी खतरनाक होती हे। उसमें बडा विवाद होता है कि कोमा वहा लगना चाहिए या यहा ? कहा लगना चाहिए, इसका निर्णय करना कठिन हो जाता हे। विराम-फुलस्टोप देने में कोई कठिनाई नहीं हे, बात समाप्त हुई और वहा विराम हो गया। छोटी बात पर वडा विवाद हो जाता है। लडाई के लिए घटना की जरूरत नहीं। लडाई पैदा होती है मस्तिष्क में और लडाई का अत होता है मस्तिष्क मे। सयुक्त राष्ट्र सघ की एक रिपोर्ट में यह वाक्य उद्धृत किया गया कि 'युद्ध पहले मस्तिष्क में उत्पन्न होता है फिर समरभूमि में लडा जाता है।' यह बिलकुल सही बात है।

मस्तिष्क का एक हिस्सा हे-भावनात्मक तत्र, जिसे हाइपोथेलेमस कहा जाता है, जो लिविक ब्रेन का एक पार्ट हे। इसमें दूसरा भाग एड्रीनल ग्लेण्ड और तीसरा पिच्यूटरी या पिनियल ग्लेण्ड है। इन सबका योग मिलता है तो हिसा, लडाई, युद्ध आदि सब भडक उठते हैं। यदि इस साझा को तोड दिया जाए, इनमें से किसी एक पर कट्रोल कर लिया जाए तो साझा टूट जाएगा और हिसा की बात गौण बन जाएगी।

सम्राट् अशोक ने कलिग में लाखो व्यक्तियों की हत्या की थी। उसने बडे युद्ध लडे। हजारों सैनिक मारे गए। बाद में वह बदल गया और इतना बदला कि अशोक अहिसा का दूत वन गया। शाति का सदेश-वाहक बन गया। उसने शाति का सदेश मात्र हिन्दुस्तान में ही नहीं, बाहर भी अनेक देशों में पहुचाया। यह वही अशोक था जो एक दिन महान् लडाकू योद्धा और नर-सहार करने वाला था और वही अशोक शातिप्रिय और धर्म का वाहक बन गया। यह परिवर्तन कैसे हुआ ? उस समय उसका नाडीतत्र और ग्रथितत्र दूसरी ओर काम कर रहा था, हिसा की ओर उन्मुख था। जब नाडी तत्र पर नियत्रण हुआ तो आमूलचूल बदल गया, शातिप्रिय हो गया। अहिसा का पुजारी बन गया।

बदलने के अनेक कारण हैं। हिसक से अहिसक होने के अनेक कारण हैं। उन कारणों में योगासन भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। इनके अभ्यास के जरिए उस तत्र को

बदला जा सकता है जो हिसा का तत्र है। उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। योगासनों का यह कार्य है और इनके द्वारा यह हो सकता है। थाइराइड पर नियत्रण करना है तो सर्वांगासन का प्रयोग लाभप्रद है। सर्वांगासन से इसको सतुलित बनाया जा सकता है।

आसन हमारे नाडीतत्र को, ग्रथितत्र को और एमिनो-एसिडो को भी सतुलित बनाते हैं। आसन शरीर में एकत्रित होने वाले बहुत सारे विजातीय तत्त्वों को भी बाहर करते हैं। शरीर में जो विष जमा होते हैं, उन्हें निकालने का एक उपाय है उपवास, तो दूसरा उपाय है योगासन।

अहिसा की दृष्टि से इन योगासनों का बहुत बडा मूल्य है। हिसा का सबध है हमारे नाडीतत्र से, हिसा का सबध हमारे ग्रथितत्र से, और हिसा का संबध है अम्लों से। हिसा का इन सबसे सबध है। इसीलिए हिसा पर नियत्रण करने में आसनों की बडी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इन्हें पहचानना है। इन्हें जानना है। बहुत बार पहचानने में गलती हो जाती है, आदमी जानबूझकर पहचानने में गलती कर देता है।

प्रेक्षाध्यान के साथ योगासन अनिवार्यतया जुडे हुए हैं और हम इन्हें अनेक दृष्टियों से आवश्यक मानते हैं। कोई व्यक्ति ध्यान करता है। ध्यान का पाचनतत्र पर असर आता है। पाचनतंत्र थोडा कमजोर बनता है। यदि योगासन न करें तो पाचनतत्र ओैर अधिक बिगड़ जाता है। ध्यान के साथ योगासन करना अत्यन्त आवश्यक है। उससे पाचन-तत्र बिल्कुल स्वस्थ बना रहता है। शारीरिक दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से और भावनात्मक दृष्टि से आसनो का अपना महत्त्व है। इसीलिए प्रेक्षाध्यान का वह एक अनिवार्य अग बना हुआ है।

योगासनो के जरिए किस प्रकार वृत्ति को और भावनाओं को बदला जा सकता है, यह एक गहन अध्ययन का विषय है। उतनी सूक्ष्मता में जाए या न जाए, मोटी-मोटी बात भी समझ में आ जाए तो वृत्ति-परिवर्तन की दिशा में, अहिसा के विकास की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता है।

80

भोजन और श्रम

मनुष्य को इस तथ्य के प्रति अधिक सावधान रहना चाहिए कि किस प्रकार के भोजन से भावात्मक स्वास्थ्य कैसा होता है। आज का आदमी केवल यह देखता है, सोचता है कि किस प्रकार के भोजन से शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहता है। यह भ्राति है। यह एक पहलू हो सकता है पर यही नहीं हो सकता। भोजन के तीन परिणाम होने चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वस्थ्य और भावात्मक स्वास्थ्य। भोजन का चुनाव करते समय हमारा विमर्श होना चाहिए कि यह भावात्मक स्वास्थ्य को बढाने वाला है या घटाने वाला ? दूसरा विमर्श यह हो कि भोजन मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है या हानिकारक ? तीसरा विमर्श यह हो कि यह भोजन शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उपकारक है या हानिकारक ?

भोजन के विमर्श का पहला बिन्दु है—भावनात्मक स्वास्थ्य। भावनात्मक स्वास्थ्य का सीधा सबध है अहिसा से। जिसका भावनात्मक स्वास्थ्य जितना अच्छा होगा, वह उतना ही अच्छा अहिसक होगा। जो भावात्मक दृष्टि से बीमार होगा वह हिसक होगा, अपराधी होगा, हत्यारा होगा। ये अपराध और हत्याए भावनात्मक अस्वास्थ्य के कारण होती हैं। आज चितन के क्षेत्र में दयनीय स्थिति बनी हुई है। आज सब कुछ शरीर की दृष्टि से सोचा जाता है। उसके बाद नबर आता है मन का। मन के विषय में बहुत कम सोचा जाता है, किन्तु भावनात्मक दृष्टि से सोचना तो नहीं के बराबर है।

आज के विचार का मुख्य पहलू है—शरीर, फिर मन और फिर भावना। इसे बदलना जरूरी है। विचार का मुख्य पहलू होना चाहिए भावना, फिर मन और फिर शरीर। जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है भावना। जैसा भाव वैसा मन और जैसा मन वैसा शरीर। अनेक विकार भाव के कारण उत्पन्न होते हैं। अनेक बीमारिया भाव के कारण होती हैं। भाव मन को प्रभावित करता है, मन बीमार हो जाता है। जब मन बीमार हो जाता है, शरीर बीमार बन जाता है।

तीन शब्द हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। व्याधि है—शरीर की व्यथा, आधि है—मानसिक व्यथा और उपाधि है—भावनात्मक व्यथा। प्रश्न है—पहले किस पर चोट करें ? सामान्यत शरीर पर चोट करने की ही बात सामने आती है, किन्तु गहरे में उतर कर विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि सबसे पहले चोट करनी चाहिए उपाधि पर, भावनात्मक व्यथा पर। काम, क्रोध, अह, ईर्ष्या, माया, लोभ, ये सब भावनात्मक दोष हैं। सबसे

पहले इन पर चोट होनी चाहिए। इन पर चोट किए विना भावनाओं को स्वस्थ नहीं रखा जा सकता।

भावनाओ के स्वास्थ्य के साथ भोजन का प्रश्न जुडा हुआ है। भोजन कैसा हो, यह विवेक होना चाहिए। आज के आहार का पैरामीटर है—स्वादिष्ट, दिखने में सुन्दर, चटपटा आदि। इसके आगे कोई सोचता ही नहीं। न भोजन का सयोजन करने वाला सोचता है न भोजन कराने वाला सोचता है और न खाने वाला सोचता है। ध्यान साधक के लिए भोजन का विवेक बहुत आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान का महत्वपूर्ण उद्देश्य है जीवन शैली को बदलना। जीवन शैली को बदलने का महत्त्वपूर्ण पहलू है आहार को बदलना। आहार में परिवर्तन आना चाहिए। यह परिवर्तन भावनात्मक परिवर्तन का हेतु बनता है। भावनात्मक स्वास्थ्य अच्छा होगा तो हिसा की वृत्तिया अपने आप क्षीण होंगी, अहिसा का विकास होगा। आहार और हिसा, आहार और अहिसा—इस पहलू पर और अधिक गभीरता से विमर्श होना चाहिए।

हिसा और अहिसा का सबध अनेक घटकों से है। हिसा की वृत्ति बढने में अनेक तत्त्व काम करते हैं। अहिसा के विकास में भी अनेक तत्त्व काम करते हैं। हिसा और अहिसा का सबध या इस भाषा में कहें कि हिसा और अहिसा की अभिव्यक्ति का सबध हमारी मुद्राओ से भी है। हम किस प्रकार बैठते हैं, किस प्रकार खडे होते हैं और किस प्रकार सोते हैं, इनके साथ भी उसका सबध जुड़ा हुआ है। योगासन एक बहुत पुरानी विधा है। हठयोग में आसनो का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन परम्परा में भी उनका बडा महत्त्व रहा है। बौद्ध ध्यान पद्धति—विपश्यना ने आसनो को स्वीकार नहीं किया, किन्तु जैन परम्परा और हठयोग की परम्परा में आसनो को बहुत मूल्य दिया गया। आसन केवल स्वास्थ्य के लिए ही नहीं किए जाते, केवल मासपेशियो को स्वस्थ बनाने के लिए ही नहीं किए जाते, उनका और ज्यादा प्रभाव है। उनसे मासपेशिया सक्रिय और स्वस्थ बनती हैं, रक्त का अभिसरण सम्यक् प्रकार से होता है, शारीरिक क्रियाए स्वस्थ बनती हैं। इतना ही नहीं, नाडी तत्र और ग्रथि तत्र भी प्रभावित होता है। उनके जरिए भावनाओ पर नियत्रण किया जा सकता है।

युग की समीक्षा करें तो एक नई स्थिति सामने आती है, जो इस युग की विशिष्ट देन है। प्राचीन काल में मासपेशियो पर दबाव ज्यादा पडता था और नाडी-तत्र पर दबाव कम पडता था। आदमी अपने हाथ से काम करता, श्रम करता। जब श्रम होता है तो मासपेशियों पर अधिक दबाव पडता है, किन्तु नाडी-तत्र को विश्राम ज्यादा मिलता है। आज उलटा हो गया। इतने साधन और सुविधाए हो गईं, जिनसे मासपेशियों को तो बहुत आराम मिल रहा है, किन्तु नाडी-तत्र पर अत्यधिक दबाव पड रहा है। यह एक भिन्न प्रकृति बन गई। पैदल चलने की जरूरत नहीं, वाहन तैयार है। पखा झलने की जरूरत

नहीं, बिजली का पखा तैयार है। न हाथ की मासपेशियो को श्रम करने की जरूरत है और न पैर की मासपेशियो को श्रम करने की जरूरत है। इतने सुविधा के साधन बन गए कि मासपेशिया अच्छी तरह से आराम करें। व्यावसायिक, औद्योगिक तथा दूसरे कारणो से तनाव, भय आदि इतने ज्यादा व्याप्त हो गये हैं कि नाडी-तंत्र पर सीमा के अतिरिक्त दबाव पड रहा है। यह एक समस्या हो गई और 21वीं शताब्दी की जो कल्पना की जा रही है, उसमें यह समस्या और अधिक भयकर बन जाएगी।

रोबोट का युग आएगा तो मासपेशियो को बिलकुल तनाव देने की जरूरत नहीं रहेगी। यह यत्र-मानव घर का सारा काम कर देगा। कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। न पखे के लिए बटन दबाने की जरूरत है, न बिजली जलाने की जरूरत। कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। कैसा अच्छा युग है । कितनी सुविधा का युग है कि कुछ भी करने की जरूरत नहीं है । यह कल्पना जैसी बात लगती है। कितना आराम होगा आदमी को ? इस कल्पना के आधार पर आदमी का भविष्य कितना जटिल होगा, यह नहीं सोचा गया। यदि ऐसा होगा तो मासपेशिया बिलकुल निकम्मी हो जाएगी। एक ओर मासपेशियो का निकम्मापन होगा तो दूसरी ओर चिन्तन, विचार और नाडी-तत्र पर अत्यधिक दबाव बढ जाएगा। पहला दबाव निठल्लेपन का होगा। आदमी फिर करेगा क्या ?

हम लोग आगम सपादन के काम में बहुत वर्षों से लगे हुए हैं। लगभग 32 वर्ष हो गए प्राचीन ग्रथों का सपादन करते-करते। काम करते-करते, चितन करते-करते मानसिक थकान जैसी आ जाती है। दो घटा, चार घटा काम में उलझ जाते, नहीं सुलझते तो थकान जेसी आ जाती। तत्काल एक प्रयोग करते। जैसे ही थकान आती, 10-20 मिनट के लिए कोई शारीरिक श्रम करते। थकान बिलकुल शात। शारीरिक श्रम स्वस्थ जीवन के लिए बहुत आवश्यक होता है। आज के युग की यह बहुत बड़ी विशेषता है। उसमें शारीरिक श्रम की कमी है और मानसिक श्रम की बहुलता है। मानसिक तनाव की बहुलता है।

81

संयम का विकास

एक बहुत महत्वपूर्ण शब्द हे सीमा। हर वात की सीमा होती हे। गाव पूरा होता ह, सीमा हो गई। नगर की सीमा पर लिखा हुआ मिलता है–नगर पालिका की सीमा समाप्त, नगर पालिका की सीमा प्रारभ। मकान की सीमा होती हे। जितनी चार दीवारिया हे, वे सव सीमा के लिए वनी ह। अगर सीमा नहीं होती तो व्यवस्था नहीं वनती। व्यवस्था और सीमा दोनो मे गहरा सम्वन्ध हे। सीमा के साथ हर काम होना अच्छा हे।

एक व्यक्ति यात्रा कर रहा था। यात्रा करते-करते एक गाव मे पहुचा। प्राचीन काल मे गाव मे 'ढावा' होता था। आजकल होटल होते ह। भोजन के लिए एक ढावा मे गया। भोजन किया। ढावे की मालकिन एक वुढिया थी। उससे पूछा–मा! मं रात को यहा रहूँ तो क्या कीमत लगेगी ? उसने कहा–'यह खाट ह। इस पर सो जाओ, इसका चार पेसा लगेगा।' उसने सोचा–व्यर्थ ही क्यो चार पसा दूँ। चार पेसा तो वहुत मूल्यवान होता हे। उसने कहा–'मुझे खाट की जरूरत नहीं हे। म नीचे आगन पर सो जाऊगा। उसने कहा–'तुम नीचे सोओगे तो चार आने लगेगे।' उसने कहा–'वडी अजीव वात ह, खाट का चार पेसा ओर नीचे सोने के चार आने, यह केसे ?' वुढिया वोली–'खाट पर सोने की सीमा हे। नीचे सोओगे तो सारा आगन ही माप लोगे।'

सीमा का अपना मूल्य होता हे।

एक व्यक्ति अपने गुरु के पास वहुत वोल रहा था। दूसरा व्यक्ति आया ओर गुरू से कहा–'में आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?' उन्होने कहा–'सबसे पहले यही सेवा करो कि इसको वाणी का सयम सिखाओ।'

बोलना अच्छा है पर बहुत बोलना अच्छा नहीं हे। खाना जरूरी है पर बहुत खाना अच्छा नहीं है। वाणी की एक सीमा है, आहार की एक सीमा है। वाणी का सयम, आहार का सयम, गति का सयम, प्रवृत्ति का सयम–जीवन के प्रत्येक कार्य मे सयम आवश्यक होता है। जो व्यक्ति सयम करना नही जानता, वह अपने लिए भी खतरा बनता है और दूसरो के लिए भी खतरा बनता है।

सयम की चेतना कैसे जागे ? सयम का विकास कैसे हो ? प्रत्येक बात को सीखने के लिए कला और कौशल की जरूरत होती है। कला और कौशल के बिना दक्षता नहीं आती। जो व्यक्ति दक्ष नही बनता, वह ठीक काम नहीं करता। हर काम सीखना पडता है।

एक महिला रसोई बनाती है। क्या उसे पहले दिन ही रसोई बनानी आ जाती है? कैसे आटा गूधे और चपाती के लिए कैसे लोया बनाए? पानी ज्यादा गिर गया तो रोटी नहीं बनेगी, कम हुआ तो भी रोटी नहीं बनेगी। आटा गूधने, लोया बनाने के बाद भी चपाती बनाना आसान नहीं है। चूल्हे पर पकाते समय ध्यान न दे तो चपाती कच्ची भी रह सकती है और जल भी सकती है।

प्रत्येक बात में कौशल और कला चाहिए। स्थूलभद्र के समय की बात है। एक प्रसग मे कोशा ने रथिक से कहा–'तुम कला सिखाते हो। तुमने एक बाण चलाया और एक पक्ति वाले सारे पत्तों को बींध दिया। यह तुम्हारा कौशल है, कला है। इससे ज्यादा तो मैं जानती हूँ। तुम मेरी कला देखो।' वेश्या ने नृत्य शुरू किया। नृत्य करते-करते सरसो के ढेर पर खडी होकर नृत्य करने लगी। सरसो का एक दाना भी इधर-उधर नहीं हुआ। कल्पना नहीं की जा सकती कि ऐसा हो सकता है, पर हुआ। उसकी कला के सामने रथिक की कला मद हो गई। कोशा ने कहा–'तुम्हारा कौशल भी कुछ नहीं है और मेरा कौशल भी कुछ नही है। महान् कौशल है स्थूलभद्र का, जो सयम करना जानता है। वह सबसे बडी कला है, सबसे बड़ा कौशल है।'

अपने आप पर नियत्रण करना, अपनी वृत्तियो पर नियत्रण करना अभ्यास के बिना सभव नही है। एक जैन श्रावक सामायिक करता है–'करेमि भते! सामाइय सावज्ज जोग पच्चक्खामि।' सामयिक का अर्थ है–सावद्य-योग का प्रत्याख्यान। इससे सयम का विकास हुआ। सयम के लिए प्रत्याख्यान बहुत जरूरी है। प्रत्याख्यान के बिना सयम की साधना नहीं हो सकती। प्रत्याख्यान, अर्थात् छोड देना, त्याग देना, अस्वीकार कर देना।

यह सकल्प की जो दृढता है, इच्छा का अस्वीकार है। मन मे आता है कि उठूं और नहीं उठा। इससे सयम की शक्ति बढेगी। मन मे उठने का भाव आया और तत्काल उठकर चला गया। मन मे कुछ आया, तत्काल वह काम कर लिया। मन मे आया, खाऊ और तत्काल खा लिया। वह सयम की साधना नहीं कर सकता। सयम की साधना वही व्यक्ति कर सकता है जो मन मे उत्पन्न होने वाली इच्छा को रोक सके। आज यह खाना है, नही खाऊगा। मन मे आ गया तो नहीं खाऊगा, बिल्कुल नही खाऊगा। मन के प्रतिकूल चलना, मन जो कहे वह न करना–यह बात समझ मे आ जाए तो सयम की शक्ति का विकास होता है, नियत्रण की शक्ति बढती है।

एक किसान खेत मे बैठा था। मुनि उस रास्ते से विहार कर रहे थे। मुनि ने कहा–'भाई! इस गाव का रास्ता किधर से जाता है?' किसान खेत से बाहर आया और रास्ता बता दिया। मुनि ने सोचा–इसने मुझे रास्ता बताया है, मुझे भी इसे मार्ग दिखाना चाहिए। मुनि रास्ते मे खडे हो गए, बोले–'भैया! तुम क्या कर रहे हो?' 'मैं खेती कर

रहा हूँ।' 'खेती तो करते हो, ओर क्या करोगे ? कोन-सा सकल्प करोगे ? कोनसा त्याग करोगे ?' 'में त्याग, सकल्प आदि कुछ नहीं जानता। म किसी भी नियम को नहीं जानता।' 'तुम्हारे मे कोई बुरी आदत हो तो उसे छोड़ दो।'

मुनि की प्रेरणा से उसका मन वदल गया। वह कुछ करने को तेयार हो गया। वह बोला—'आप कहते हैं, मै कुछ त्याग करूँ। आप ही मुझे एक ज्ञान की वात वता दे, उसका मैं पालन करूँगा। मुनि ने कहा—'एक काम करो, मन का जाना मत करो। मन मे इच्छा आए, वह काम मत करो।' किसान ने कहा— ठीक हे। मुनि ने वहा से प्रस्थान कर दिया। किसान वहीं खडा रहा। उसने सोचा—जाऊ। पर नहीं जा सकता क्योंकि यह तो मन की जानी बात हो गई। नहीं गया, वहीं खडा रहा। घटा वीता, दो घटा वीता, थक गया। सोचा—बैठू, पर मन की जानी वात हो गई। ऐसा भी नहीं करना। प्यास लगी, सोचा—पानी पीऊ। पर पानी पीऊ केसे ? यह तो मन की जानी वात हो गई। मन मे जो इच्छा हो, उसे पूरा नही करना है। खडा हे। तीन घटे वीत गए। दोपहर का समय हो गया।

पत्नी भोजन लेकर घर से आई, देखा—किसान खेत मे नही है। इधर-उधर झाका। आखिर सामने खडा मिल गया। उसने सोचा, आज क्या हो गया ? किसान एकदम चुपचाप सीधा खडा है। वह उसके पास गई। देखा—जेसे कोई ध्यान की मुद्रा मे खडा है। सोचा क्या हुआ ? क्या कोई योगी बन गया ? पत्नी ने कहा— आप क्या देख रहे हो ? यह रोटी लो, खेत मे चलो और रोटी खाओ। किसान ने सोचा रोटी आ गई। रोटी खाऊ, कैसे ? यह तो मन की जानी बात हो गई। खानी नहीं हे। खडा रहा, न रोटी खाई, न कहीं गया। सयम, सकल्प मजबूत बनता गया। अपने सकल्प मे इतना लीन बना कि वहा पहुच गया, जहा पहुचना था।

82
जीवन-शैली

व्यक्ति की जीवन-शैली एक दर्पण है। उसमे चेतना का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। जीवन का एक अनिवार्य घटक है आहार। व्यक्ति कैसे खाता है ? समभाव से खाता है तो पता लग जाएगा कि चेतना कहा है ? आसक्ति से खाता है तो पता लग जाएगा कि चेतना कहा है। वर्तमान मे हृदय रोग, अल्सर, कैसर–ये सब भयकर बीमारिया हैं। इन सबका कारण है जीवन-शैली। जीवन-शैली बीमारियो को बढाने वाली बन गई। जब जीवन-शैली बीमारी बढाती है तब बेचारा डॉक्टर क्या करेगा ? हॉस्पिटल क्या करेगा ? दवा से रोग बढता ही जा रहा है। जैसे-जैसे हॉस्पिटल बढ रहे हैं, डॉक्टर बढ रहे है, मेडिकल कॉलेज खुल रहे है, वैसे-वैसे बीमारिया भी गति पकड रही हैं। नई-नई बीमारिया पैदा हो रही हैं, जिनका पहले नाम ही नहीं सुना जाता था। कारण है–जीवन की शैली बदल गई, जीवन का क्रम बदल गया। प्राचीन स्वस्थ परम्परा थी कि रात को दस बजे के लगभग सो जाना और चार बजे उठ जाना। वह बहुत वैज्ञानिक पद्धति थी। आज सारा क्रम ही बदल गया।

हमारे शरीर मे अनेक अन्त स्रावी ग्रथिया है। उनमे एक महत्वपूर्ण ग्रथि है पीनियल ग्लैण्ड, वह पिच्यूटरी से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। पिच्यूटरी ग्लैण्ड मास्टर-ग्लैण्ड है, वह सब ग्रथियो पर नियत्रण करती है। इससे एक रसायन बनता है मेलाटोनिन, जो मानसिक शाति बनाए रखता है, मन को एकदम शान्त रखता है। इससे मन बेचैन नही होता, उदास नही होता, शातिपूर्ण जीवन व्यतीत होता है। इससे वह रसायन बनता है जो बुढापे को भी रोकता है, आयु को दीर्घ बनाता है। स्वास्थ्य को अच्छा रखता है, शाति भी देता है। ये सारे कार्य उस रसायन द्वारा सम्पादित होते है। इसके स्राव का मुख्य समय है ब्रह्ममुहूर्त मे चार बजे। दिन मे जब दूसरी ग्रथिया सक्रिय होती है, पीनियल निष्क्रिय बन जाती है। रात को दूसरी ग्रथिया निष्क्रिय हो जाती है, पीनियल ग्रथि काम करती है।

आचार्य श्री तुलसी ने चिन्तनपूर्वक जीवन-शैली को बदला। जीवन-शैली के दो मुख्य घटक हैं 1 शयन और जागरण तथा 2 आहार। इन दो बातो ने आचार्य तुलसी को स्वास्थ्य दिया, शक्ति दी। सोने मे कभी-कभी विलम्ब भी हो जाता, कभी-कभी बारह भी बज जाते, पर उठने के समय मे कोई फर्क नहीं पडता। ठीक चार बजे उठ जाते। हमारे भी प्राय चार बजे उठने का क्रम प्रारभ से ही चल रहा है। आचार्य श्री बहुत बार कहते–पूज्य कालूगणी हमेशा चार बजे उठा देते थे। दीक्षा से लेकर अब तक हमारा

चार बजे उठने का समय बधा हुआ है। सूरज उगने मे साढे तीन घटा का समय हो तो भी चार बजे उठना है। छोटी रात हो तो भी चार बजे उठना है। दस बजे सोये तो भी चार बजे उठना है और बारह, एक बजे सोये तो भी चार बजे उठना है। वैदिक साहित्य मे इसे ब्रह्ममुहूर्त कहते है।

ब्रह्ममुहूर्त के समय जागने वाला व्यक्ति अनायास ही कुछ शक्तियो को जागृत कर लेता है और बहुत सारी कठिनाइयो से बच जाता है। यह एक बडा परिवर्तन हे जीवन-शैली का—ठीक समय पर सोना, ठीक समय पर उठना। न अनिद्रा की बात, न अतिनिद्रा की बात। दोनो से बचकर स्वस्थ जीवन जीना है। दो बजे से चार बजे का समय आत्मचिन्तन, ध्यान और नई खोज के लिए बडा महत्त्वपूर्ण होता है। नई खोज किसी को करना है, नई बात खोजना है, उसके लिए ठीक समय है दो से चार बजे का। इस समय नई बात उपज सकती है। मन बहुत शान्त रहता है, क्योकि इस वक्त मेलाटोनिन का स्राव होता है।

दूसरा परिवर्तन है आहार का। बहुत वर्ष पहले आचार्यवर ने चिन्तन किया कि अब आहार को बदलना चाहिए। सबसे पहले चीनी खाना छोडा। जैसे-जैसे अवस्था आती है, चीनी ज्यादा खाना अच्छा नहीं होता। बुढापे मे कम से कम चीनी का प्रयोग करना चाहिए। सफेद चीनी को तो बिल्कुल छोड देना चाहिए। यह मात्र अम्लता बढाती है। मनुष्य का पाचन तन्त्र कमजोर हो जाता है फिर भी मिठाई खाने का मन ललचाता रहता है। पचास-साठ वर्ष के बाद चीनी, घी और नमक का प्रयोग जितना कम होगा उतना व्यक्ति स्वस्थ व शक्तिशाली रहेगा। मानसिक प्रसन्नता का जीवन जीएगा। चीनी न खाने का सकल्प किया। इन दो स्थितियो ने शक्ति को बराबर बनाए रखा। कब सोना, कब जागना, कब खाना, क्या खाना, कितना खाना—यह विवेक आवश्यक है।

बुढापे मे पक्षाघात की बहुत सम्भावना रहती है। पक्षाघात आता नहीं है, उसे बुलाया जाता है। शरीर से श्रम नही करते, आते कमजोर हो गई, नाडिया कमजोर हो गई। खूब खाना और ज्यादा रस बनना—पक्षाघात नहीं होगा तो फिर क्या होगा ? आश्चर्य की बात है कि हम जीवन के प्रति, अपने शरीर के प्रति भी जागरूक नहीं है तो भला आत्मा के प्रति कैसे जागरूक बनेगे ? आत्मा तो बहुत आगे की बात है। शरीर दिखाई दे रहा है, आत्मा तो दिखाई नही देती। स्थूल के प्रति हमारी जागरूकता नही है तो सूक्ष्म के प्रति जागरूकता कैसे बनेगी ?

बडा कठिन है जीवन-शैली को बदलना। जो व्यक्ति ध्यान का प्रयोग करता है उसकी जीवन-शैली बदलनी चाहिए। कैसे बोलना, कैसे खाना, कब बोलना, कब खाना, कब उठना, कब बैठना, कब जागना, कैसे सोना, कैसे जागना, इन सब बातो का विवेचन कर अपनी जीवन-शैली का निर्धारण करे।

ध्यान के द्वारा जीवन का क्रम बदलना चाहिए, आहार का क्रम बदलना चाहिए—इन दो बातों पर ध्यान देकर ध्यान का अभ्यास करना है। इससे वर्तमान का जीवन अच्छा बनेगा, शरीर भी स्वस्थ बनेगा। मन आर भावनाए भी स्वस्थ होंगी। शरीर, मन और भावनाए स्वस्थ होती हें तो परिवार भी स्वस्थ बनता हे, समाज भी स्वस्थ बनता है। *'स्वस्थे चित्ते बुद्धय: प्रस्फुरन्ति'*—जब हमारा चित्त स्वस्थ होता है तो बुद्धि की स्फुरणा भी होती हे, स्मृति भी बढ जाती हे। छोटे-छोटे लडके आते हें ओर कहते हें कि ऐसा कोई प्रयोग बताए जिससे बुद्धि बढ जाए। में उनसे कहता हूँ—अभी तुम बच्चे हो, जन्मे ही नहीं हो ओर बुद्धि कमजोर हो गई? सारा जीवन-क्रम ऐसा बन गया कि छोटे-छोटे लड़के भी स्मृति की कमजोरी के शिकार बन जाते हें, समस्याओं से घिर जाते हैं।

समग्र सदर्भ पर विचार करें आर अपने जीवन की शेली को बदलें। शरीर के लिए भोजन सतुलित होना आवश्यक ह ओर भोजन का विवेक होना भी आवश्यक है। कब किस अवस्था में क्या प्रयोग हो—घी खाना जरूरी हे, चिकनाई खाना जरूरी है, नमक भी थोड़ा आवश्यक ह, खनिज भी आवश्यक होता हे, विटामिन भी आवश्यक होता हे, प्रोटीन भी आवश्यक होता हे। आज की समस्या यह हे कि गरीब लोगों को सतुलित भोजन उपलब्ध नहीं हे ओर अमीर लोगो को सब कुछ सुलभ हे, किन्तु उनकी जीवन-शेली सम्यक् नहीं ह। मजदूरो को भूख लगती हे, अमीरों को भूख नहीं लगती। अमीर भूख की खोज में ह ओर गरीब रोटी की खोज में। गरीब को भूख खूब लगती है पर रोटी नहीं मिलती। अमीर को रोटी खूब मिलती हे पर भूख नहीं लगती। यही स्थिति शयन के सदर्भ में हे। गरीबों को सोने के लिए छत उपलब्ध नहीं हे। अमीरो के पास आलीशान बगले हैं पर उन्हें नींद सुलभ नहीं हे।

आहार-विवेक आर सम्यक् नींद, जीवन-शेली के ये दो महत्त्वपूर्ण अग हैं। ये स्वस्थ, शात एव पवित्र जीवन का आधार बनते हें। इनके बिना चेतना के ऊर्ध्वारोहण की कल्पना नहीं की जा सकती। जिसमें आहार का विवेक है, जो अनिद्रा ओर अतिनिद्रा की समस्या से मुक्त हे, वही चेतना के विकास की दिशा का उद्घाटन कर सकता है।

83

शरीर-साधना

बच्चा सर्दी से ठिठुर रहा था, मा आई, उसको एक कपडा ओढा दिया। इतने में पिता आया कपड़े को एक ओर रख दिया। मा ने देखा, बच्चा ठिठुर रहा है। उसने पुन· वह कपडा बच्चे पर डाल दिया। पिता ने पुन· कपडे को हटा दिया। मा ने कारण पूछा। पिता बोला—तुम नहीं जानती इस बात को कि कपडे अधिक होंगे तो बच्चा कमजोर हो जाएगा। इसे सर्दी सहन करने दो, जिससे कि यह मजबूत बने।

तेरापथ के महान् आचार्य पूज्य कालूगणी कई बार कहते—"मैं अपनी मा का इकलौता बेटा था। पिता रहे नहीं। मा का बहुत लाड-प्यार। वह मुझे बाहर नहीं जाने देती। मैं खेलने से वचित रह गया। घर में बैठा रहता। बैठे-बैठे घुटने कमजोर हो गए। आज तक उस कमजोरी को भोग रहा हूँ।" जो बच्चे बचपन में खेल लेते हैं, उनकी हड्डिया मजबूत बन जाती हैं और जिनको घर में बिठाकर रखा जाता है और यह समझा जाता है कि बडे घरों के बच्चे बाहर कैसे जाए, तो वे बच्चे कमजोर रह जाते हैं। उनकी हड्डिया कमजोर रह जाती हैं।

बगीचा था। उसमें छोटे-बडे वृक्ष और पौधे थे। तूफान आया पेड हिलने लगे, पौधे अधिक हिल उठे। ऐसा लगने लगा कि पौधे उखड जाएंगे। बगीचे के मालिक ने देखा। उसने माली को बुलाकर कहा—"तूफान तेज हो रहा है। सम्भव है, सारे पौधे उखड जाए। सारी मेहनत बेकार चली जाएगी। इन्हें तुम बाध क्यों नहीं देते, बाधने से ये उखड़ेंगे नहीं।"

माली बोला—"मालिक! बाध तो दूगा, पर ये कमजोर रह जाएंगे। जो पौधे प्रारम्भ में तूफान के प्रहारों को सह लेते हैं, वे मजबूत हो जाते हैं, वे कभी उखडते नहीं। जो पौधे बाध दिए जाते हैं, वे उस तूफान से तो बच जाते हैं, पर जीवनभर कमजोर रह जाते हैं। प्रतिपल यह आशंका बनी ही रहती है कि वे अब उखडे, अब उखडे। जो दूसरों के सहारे जीता है, वह कमजोर रह जाता है।"

एक बहुत बडी शक्ति है सहिष्णुता। सहिष्णुता का विकास तब होता है जब सहारे की बात नहीं सोची जाती। जो कष्ट सहते हैं, कठिनाइया झेलते हैं, वे सहिष्णुता का विकास कर लेते हैं।

यह सब जीवन-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा ही सभव हो सकता है। विद्या शाखीय-शिक्षा के द्वारा कभी नहीं हो सकती। विद्या की जितनी शाखाए हैं, उन सबको पढ लो, किन्तु सहिष्णुता की शक्ति नहीं जाग पाएगी, समता का विकास नहीं हो पाएगा। विद्या

की एक शाखा जीवन-विज्ञान की शाखा ही एक ऐसा माध्यम बन सकती है जो आदमी की आन्तरिक शक्तियों को जगाकर उसके व्यक्तित्व को सर्वांग सुन्दर बना सकती है। आज तक इस शाखा की उपेक्षा होती रही है, हो रही है। जब तक यह उपेक्षा अपेक्षा में नहीं बदलेगी, उसका विकास नहीं होगा, तब तक कष्ट-सहिष्णुता या समता का भाव नहीं आ पाएगा। मनोबल का विकास नहीं हो सकेगा। मनोबल जो विकसित होता है, वह टूट जाता है। परिस्थिति आती है और आदमी अधीर हो जाता है। उसमें सहने की ताकत नहीं रहती।

हम जिस दुनिया में जी रहे हैं वह सयोग-वियोग की दुनिया है। न जाने प्रतिदिन कितनी करुण घटनाए घटित होती हैं। दुर्घटनाए होती हैं। अनेक व्यक्ति मर जाते हैं। धन चला जाता है। अनेक विकट परिस्थितिया पैदा होती हैं। आदमी में उन्हें झेलने की शक्ति नहीं रहती। इस स्थिति में क्या यह सम्भव है कि हमारी शिक्षा हमें कोई सहारा दे ? आज की शिक्षा के साथ यह शिक्षा अवश्य ही जोडनी होगी, और वह शिक्षा है अपने आपको देखने की शिक्षा, मनोबल को विकसित करने की शिक्षा, सहिष्णुता को बढाने की शिक्षा।

बहुत बार मैंने देखा है कि जैन मुनि सर्दी में एक कपडा ओढते हैं, दो कपडे ओढते हैं। गर्मी में आतप लेते हैं। चिलचिलाती धूप में शिला पर दो-तीन घटा लेट जाते हैं। प्रारम्भ में मुझे ऐसा लगा कि यह कितना कठोर कर्म है। कितनी कठोर तपश्चर्या है। क्या यह आवश्यक है ? क्या यह व्यर्थ प्रयत्न नहीं है ? जब शरीर को कपडों की जरूरत है तो फिर एक या दो कपडे ही क्यों ओढे जाते हैं ? जब शरीर को छाया की जरूरत है तो फिर धूप का सेवन क्यों किया जाता है ? शरीर को अनावश्यक कष्ट और क्लेश दिया जाए, बडा अजीब है यह धर्म।

किन्तु, जैसे-जैसे मैं स्वय साधना के अनुभवों से गुजरा, मुझे यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि जब तक साधक काया को नहीं साध लेता, काय-सिद्धि नहीं कर लेता, तब तक सत्य के शोध की मजिल तो तय होती ही नहीं, अपितु असत्य के भयकर परिणाम भी उसे भुगतने पडते हैं। कायक्लेश शरीर को सताने की प्रक्रिया नहीं है, यह शरीर को साधने की प्रक्रिया है, शरीर-सिद्धि की प्रक्रिया है। इसके द्वारा शरीर इतना साध लिया जाता है कि वह हर परिस्थिति को झेल लेता है। जैसे-जैसे श्वास के प्रति जागरूकता होती है, वैसे-वैसे काया की सिद्धि सधती जाती है। श्वास की आच में तपने वाली काया कभी कच्ची नहीं रहती। भगवान् महावीर ने भयकर कष्ट सहे। अन्यान्य साधकों ने भी कष्ट सहे। क्या वे उन कष्टों का प्रतिकार नहीं कर सकते थे ? उनके सामने दो मार्ग थे। एक था सहने का मार्ग और दूसरा था प्रतिकार का मार्ग। उन्होने सहने के मार्ग को अपनाया। वे कष्टों को सहते गए और सहते-सहते उनका समूचा शरीर चुम्बकीय क्षेत्र बन गया।

प्रत्येक साधक चाहता है कि उसे अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति हो। क्या अतीन्द्रिय ज्ञान का होना कोई छोटी बात है कि वह छोटे से प्रयत्न से हो जाए? हम काच में मुह देख सकते हैं, क्योंकि वह निर्मल है। पारदर्शी काच के द्वारा हम पार की वस्तु देख सकते हैं, पर पहले पारदर्शी होना होता है। पारदर्शी अवस्था प्राप्त होने पर पार की वस्तु देखी जा सकती है। अतीन्द्रिय ज्ञान-चेतना का अर्थ है, पार की वस्तु को प्रत्यक्ष देख लेना। पार की चेतना तब जागेगी जब पूरा शरीर चुम्बकीय क्षेत्र बन जाएगा।

ओकल्ट साइन्स के वैज्ञानिकों ने यह तथ्य प्रगट किया कि आदमी जब तक अपने शरीर के विशिष्ट केन्द्रो को चुम्बकीय क्षेत्र नहीं बना लेता, एलेक्ट्रोमेग्नेटिक फील्ड नहीं बना लेता, तब तक उसमें पारदर्शन की क्षमता नहीं जाग सकती। चैतन्य-केन्द्रों और चक्रों की सारी कल्पना का मूल उद्देश्य है—शरीर को चुम्बकीय क्षेत्र बना लेना।

सहिष्णुता और समभाव-वृद्धि के प्रयोग—उपवास, आसन, प्राणायाम, आतापना, सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास आदि इन सारी प्रक्रियाओं से शरीर के परमाणु चुम्बकीय क्षेत्र में बदल जाते हैं और वह क्षेत्र इतना पारदर्शी बन जाता है कि उस क्षेत्र से भीतर की चेतना बाहर झाक सकती है।

84

स्वार्थ-चेतना से मुक्ति

आदमी इसी चिता मे रहता है कि कैसे वह अपनी इन्द्रियो को तृप्ति दे सके, बस इससे आगे कुछ नहीं सोचता। यह स्वार्थकेन्द्रित प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का पदार्थ के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। यह प्रवृत्ति असतोष या तनाव उत्पन्न करती है। असतोष के कारण व्यक्ति कभी भी यह अनुभव नहीं करता कि मैं खुश हूँ। किसी बडे आदमी से पूछो तो भी शिकायत है, छोटे से पूछो तो भी शिकायत है। हर आदमी के मन मे शिकायत है। जहां आत्मतोष है वहा कोई शिकायत नहीं है।

पूर्ण सन्तुष्ट बहुत कम लोग मिलेगे। सन्तोष कहीं भी दिखाई नहीं देता। जब तक स्वार्थ-केंद्रित चेतना का विकास होता रहेगा तब तक यह स्थिति बराबर बनी रहेगी। इसमे परिवर्तन आए, वडा कठिन लगता है। जहां स्वार्थ बढ जाता है, वहा दूसरे प्राणी का कोई मूल्य नहीं रहता, आदमी का मूल्य नहीं रहता, चेतना का मूल्य नही रहता, केवल पदार्थ का मूल्य, पैसे का मूल्य रह जाता है।

दो वृद्ध आदमी यात्रा पर जा रहे थे। रास्ते मे कुआ आया। पानी पीने के लिए ठहरे। एक व्यक्ति ने रस्सी और डोल हाथ मे ली, पानी निकालना शुरू किया। अकस्मात उसे चक्कर आया। वह रस्सी और डोल सहित कुए मे गिर गया। कुआ पानी से भरा हुआ था। दूसरे वृद्ध ने देखा—मेरा मित्र तो गिर गया। भीतर झाका तो पता चला, कुए मे छोटा सा पेड है। उस पेड को पकड़े हुए लटक रहा है। उसने पूछा—'अरे! क्या हुआ?'

'देख क्या रहे हो, झट से बाजार जाओ, रस्सा खरीदकर लाओ और मुझे बाहर निकालो।' वह बाजार मे गया। घण्टा भर घूम कर वापिस आया। पहले ने पूछा—'बहुत देरी की, रस्सा ले आया क्या?'—'रस्सा नहीं लाया।'

—'क्यो नहीं लाया?' 'रस्सा दो आने का था। बाजार के लोग इतने निकम्मे हैं कि दो आने के रस्से के दो रुपए माग रहे हैं।' मैंने सोचा—तुम बूढे तो हो ही गए, आखिर कितना जीना है। थोडे जीने के लिए दो रुपए व्यर्थ मे क्यो गवाए? बूढ़ा आदमी भले ही मरे पर दो रुपया व्यर्थ में क्यो जाए, जहा इस प्रकार की चेतना बन जाती है वहा आत्मसतोष की बात, तनाव-मुक्ति की बात सोची नहीं जा सकती।

अब्राहम मास्लोव ने मनुष्य को दो भागो मे विभक्त किया है। पहले प्रकार के लोग निर्वाह-चेतना वाले होते हैं। वे आवश्यकता पर निर्भर रहते है। दूसरे प्रकार के वे लोग हैं, जो किसी विशेष उद्देश्य के साथ जीते हैं। अधिकाश लोग निर्वाह-चेतना के

साथ जुड़े हुए है। आदमी केवल अर्थ केन्द्रित, पदार्थ केन्द्रित और स्वार्थ केन्द्रित होता है तो समाज जहा जाता है जाने दे, उनके लिए कोई चिन्ता की बात नहीं है। यदि समाज को उन्नति की ओर ले जाना है तो इस अर्थ केन्द्रित मिथ्या धारणा को तोडना पड़ेगा, अन्यथा समाज की चेतना जाग नही सकेगी।

अध्यापक ने विद्यार्थी से कहा–'तुम्हारा गणित का ज्ञान ठीक नहीं है। आज गणित का पेपर है, तुम ठीक नहीं कर पाओगे।' एक बार कहा। दो बार कहा। तीन बार कहा। वह परीक्षा मे पेपर हल करता रहा। दूसरे सब विद्यार्थी चले गए। अकेला रह गया। काफी देर लग गई। काफी श्रम कर लिखा। उत्तर पुस्तिका अध्यापक के हाथ मे थमा दी। अध्यापक ने कहा–'कुछ तो ठीक किया है, फिर भी पच्चीस पैसो का ही अन्तर आया है।' विद्यार्थी बोला–'मास्टर साहब! मम्मी मेरी प्रतीक्षा कर रही है, मुझे भोजन करना है। पच्चीस पैसे का अन्तर है तो यह लो पच्चीस पैसे और मुझे छुट्टी दे दो।' जहा गणित के ज्ञान को भी पैसो से भुनाया जाता है, वहा क्या हम ज्ञान के क्षेत्र मे प्रगति की कल्पना कर सकते है ?

जहा केवल ज्ञान के क्षेत्र को ही नहीं, हर क्षेत्र को पैसो से भुनाया जाता है वहा हम विकास की कल्पना नही कर सकते। केवल अर्थ का ही जीवन मे मूल्य नहीं है। मनुष्य का जीवन बहुआयामी होता है। उसका एक आयाम है–अर्थ। उस पर ही सारा ध्यान केन्द्रित हो जाए, पदार्थ पर ही सारा ध्यान केन्द्रित हो जाए तो समाज उन्नत नहीं हो सकता। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वालो मे एक नई चेतना जागनी चाहिए। उन्हे स्वार्थ केन्द्रित नहीं बनना है, किसी बड़े उद्देश्य के साथ जुडना है। यह बहुत आवश्यक है। बड़े लक्ष्य के साथ जुड़े बिना, बडा काम किए बिना कभी सिरदर्द नहीं मिटता। कोई भी घटिया काम होता है, छोटा लक्ष्य होता है तो सिर दर्द की गोलिया बहुत बिक जाती है।

आदमी को बड़ा काम करना है, छोटी बात मे नहीं उलझना है। जिनकी चेतना विकसित नहीं होती, वे बहुत छोटी-छोटी और अर्थहीन बातो मे उलझ जाते हैं। आज हर व्यक्ति के मन मे एक विशेष प्रकार की लालसा है, आकाक्षा है और वह उस आकाक्षा की पूर्ति मे लगा हुआ है। यह माननीय चेतना के साथ सम्बन्ध रखने वाली चेतना नहीं है। सस्कृत के कवि ने आदमी और पशुओ की तुलना की है। वे वृत्तिया, जो स्वार्थ और सकीर्ण दायरे मे होती है, पशु की वृत्तिया है, मानवीय वृत्तिया नहीं। एक वर्गीकरण कर दिया-यह मान्नीय वृत्ति है और यह पाशविक वृत्ति है। धर्म के सभी आचार्यो ने एक प्रयत्न किया कि पाशविक वृत्तिया समाप्त हो और मानवीय वृत्तियो का उदय हो। इस दिशा मे नीति शास्त्री, मानव शास्त्री और धर्मशास्त्री तीनो प्रकार के लोगो ने प्रयत्न किए है।

आज नैतिकता की समस्या है। आदमी स्वार्थ केन्द्रित बना हुआ है। वह दूसरो को महत्व देना ही नहीं चाहता। अपने लिए सारी सुविधाए जुटाना चाहता है। अपने लिए, अपने परिवार के लिए, बस इससे आगे वह नहीं सोचता। इस स्थिति मे नैतिकता का विकास कभी नहीं हो सकता। जब तक चेतना व्यक्ति या परिवार तक सीमित रहेगी तब तक नैतिकता की सभावना नहीं की जा सकेगी। नैतिकता का मतलब है--स्वार्थ-चेतना का अतिक्रमण। स्वार्थ-चेतना से आगे बढ़े तभी नैतिकता आएगी, लेकिन यह कब सभव होगा, शायद आज भी लोग प्रतीक्षा मे बैठे हैं।

85

मैत्री का विकास

कुछ व्यक्तियों ने लिंकन से कहा—आपके शत्रु वहुत हैं, अभी आप सत्ता में हैं, उनको समाप्त क्यों नहीं कर देते ? लिंकन ने कहा—'उन्हें समाप्त कर रहा हूँ।' लोगों ने कहा अभी तक किसी को जेल में नहीं डाला, फासी नहीं दी, देश से नहीं निकाला। फिर कैसे समाप्त कर रहे हैं ? लिंकन वोले—शिष्ट व्यवहार से सवको जीत रहा हूँ। कुछ ही समय में वे मेरे मित्र वन जाएगे। फिर कोई शत्रु नहीं रहेगा। सव शत्रु समाप्त हो जाएगे।

सबके प्रति आत्मीय या पारिवारिक भावना होने पर मन प्रफुल्ल रहता है। उसको किसी से भी भय नहीं होता। शत्रुता ओर भय, मैत्री ओर अभय—ये दो युगल हैं। जिसका मन भय से भरा होता है, वही दूसरे को शत्रु मानता हे। जिसके मन में कोई भय नहीं होता, वह अनिष्ट करने वाले को अज्ञानी मान सकता है, किन्तु शत्रु नहीं मानता। सव जीवों के हितचिन्तन का बार-बार अभ्यास करने से मैत्री का सस्कार पुष्ट होता है।

शत्रुता का इतना ही अर्थ नहीं है कि दूसरे से द्वेष रहे और मित्रता का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे से प्रेम रहे। शत्रुता का अर्थ है—अपने कर्तव्य को भुलाकर दूसरे के कर्तव्य में बुराइया देखना। यह शत्रुता है एक प्रकार की। पत्थर के प्रति भी हमारी शत्रुता हो जाती है। हम पत्थर को भी गालिया देने लग जाते हैं। पूरा बर्तन पानी से भरा था, एक हाथ से उसे उठाया, वह फूट गया। अब इस सचाई को नहीं खोजा कि पानी से भरा हुआ पात्र एक हाथ से उठाया जाएगा तो छूटेगा और फूटेगा।

हम कहेंगे—पात्र इतना कच्चा था कि नहीं फूटता तो और क्या होता ? यह परिणाम तो अवश्यभावी था। इस प्रकार अपने कर्तव्य को बचाने की जो बात है वह भी एक प्रकार से दूसरो के प्रति शत्रुता है।

दूसरी वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव, मित्रता का अर्थ केवल प्रेम ही नहीं है। प्रेम भी मित्रता है, किन्तु वास्तव में मित्रता है—सबके अस्तित्व को स्वीकार करना। जो जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करना। किसी का किसी पर दोषारोपण न करना। यह है मित्रता। यह अनाशातना है। जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण शब्द है 'आशातना'। जीव की आशातना होती है। अजीव की आशातना होती है। मकान की आशातना होती है। आशातना द्वेष है, शत्रुता है। अनाशातना मैत्री है। हमारा यह व्यापक दृष्टिकोण है कि हम सत्य को खोजें और सबके साथ मैत्री करें। अर्थात् जो जिसका जितना है उसे स्वीकार करें सहज भाव से और किसी पर कुछ आरोपित न करें।

विनम्रता, मृदुता हर किसी को पिघला देती है। हम किसी के प्रति सद्‌भावना करें, प्रेमपूर्ण भावना करें, वह पिघल जाता है। गाय अधिक दूध देने लग जाती है, वृक्ष अधिक फल-फूल देने लग जाते हैं और लताए अपनी दिशा बदल देती हैं। एक ईसाई महिला ने प्रयोग किया। उसने कुछ पौधे लगाए, किन्तु एक लता उन पर छा जाती, उन पौधों को ढक देती। पौधों को पनपने का मौका ही नहीं मिलता। एक दिन महिला उस लता के पास गई और विनम्र स्वर में बोली–'लता! मुझे दु ख है कि तुझे काटना पडेगा। मुझे खेद है, तू मुझे क्षमा करना।' उस महिला ने पोधे पर छा जाने वाली लता के भाग को काट डाला। फिर लता को सुझाव दिया कि तुम अमुक दिशा में बढती जाओ। कुछ दिनों वाद देखा कि उस लता ने अपना मार्ग बदल डाला और दूसरी दिशा में बढना प्रारम्भ कर दिया। जब लता भी विनम्र वात सुन लेती है, पौधा भी सुन लेता है, तब आदमी हमारी भावना क्यों नहीं सुनेगा ? हमारी मृदुता को वह न समझे, यह कैसे हो सकता है ? किन्तु, हमने यह रूढ़ धारणा वना ली है कि आदमी पर मृदुता से शासन नहीं किया जा सकता। इस धारणा से मानवीय सवधों में कटुता आई है। एक आदमी दूसरे आदमी को शत्रु या पराया मानता हुआ चला जा रहा है।

जीवन की सफलता का सूत्र है–सरसता। मृदु व्यवहार जीवन की सरसता का सूचक है। जिसका व्यवहार कठोर होता है, उसका जीवन सरस नहीं हो सकता। वह स्वय भी सरस नहीं हो सकता और दूसरों में भी सरसता नहीं भर सकता। जिसका व्यवहार मृदु होता है वह स्वय सरस होता है और दूसरों में भी सरसता भरता है।

आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है–मैत्री का विकास। मैत्री के विकास के लिए शक्ति का विकास और शक्ति के विकास के लिए सहिष्णुता का विकास, निर्मलता का विकास। जब ये सब विकास हमारी चेतना मे घटित होते हैं तब दृष्टि का रूपातरण होता है। हम तब सचमुच इकोलॉजी के सिद्धात की परिधि मे आ जाते हैं। आज की इस नई शाखा का विकास जितना अहिसा के जगत मे हुआ है, आज तो उसका पुनरावर्तन हो रहा है, बहुत ही थोडे अशो मे। परस्परालम्बन, सहयोग और परस्पर निर्भरता–ये सब प्रकृति के कण-कण से जुडे हुए हैं। ये सब अहिसा के सिद्धात मे बहुत विकसित हुए हैं।

86

मैत्री के प्रयोग

मैत्री का दार्शनिक पक्ष है आत्मतुला का सिद्धांत—सबको अपने समान समझे और अपने समान माने। उसका प्रायोगिक रूप है—हितचितन करो। अपना हित सोचो और दूसरे का हित भी सोचो। इसका अर्थ है—दूसरा कोई अज्ञानी है, उसे ज्ञान की बात बताओ। दूसरा कम समझता है, उसको सीख दो, विवेक दो। दूसरे की ज्ञान-शक्ति का उद्‌घाटन करो, दूसरे का निर्माण करो। शक्ति का नियोजन करो और दूसरे का निर्माण करो। यह मैत्री का व्यावहारिक रूप है कि आप मे कोई विशेषता है तो उसे अपने तक सीमित मत रखो, उसका उपयोग करो और दूसरे को भी बताओ। दूसरे को बताना बहुत बड़ी बात है।

एक गुरु अपने शिष्य को आगे बढाता है, पढ़ाता है, तैयार करता है। यह मैत्री का प्रयोग है। यह मैत्री हमारा सिद्धात बन गया। आत्मतुला के सिद्धात को सामने रखे, सब जीवो को अपने समान समझें, उनके विकास का प्रयत्न करे, उनके उत्थान का प्रयत्न करे, उन्हे उठाए, उन्हे कुछ दे। यह केवल धर्म की बात नहीं है, मैत्री की भी बात है। उन्हे ज्ञान, दर्शन, चारित्र मे कुछ दे। व्यवहार मे भी जो दूसरो को देता है वह लाभ में रहता है। दूसरो को नहीं देता, वह कजूस कहलाता है, लाभ मे भी उतना नहीं रहता।

एक दिन राजा ने अपनी दोनों महारानियों को बुलाया। वे रसोई की देख-रेख करती थीं। राजा ने दोनो से कहा—'कल तुम्हें रसोई बनाना है, किन्तु उसमें ईंधन के रूप में लकड़ी और प्रचलित सामग्री का प्रयोग नहीं करना है।' एक महारानी ने पूछा—'तो किससे बनाए ?' उस समय गैस से रसोई बनाने की विधि विकसित नहीं थी। राजा ने कहा—'ईख का प्रयोग करो। लकड़ियों की जगह ईख चूल्हे में डालो और ईख से रसोई बनाओ। मैं ईख से बनी रसोई खाना चाहता हूँ।' उन्होने कहा—'ठीक है।'

राजा के क्या कमी थी ? अनेक वाहनों में भरकर ईख लाई गई। बडी महारानी ने अपने नौकरों से कहा—ईख चूल्हे में डालो। ईख डालते ही धुआं उठा। सबकी आखें जलने लग गई। चारो ओर धुआ ही धुआ हो गया। रसोई बनाना सभव नहीं रहा। छोटी महारानी समझदार थी। उसने सोचा—चूल्हे में ईख डालेंगे तो धुआ बहुत हो जाएगा। उसने बच्चो को बुलाया, कहा—ईख चूसो। बच्चे आए। ईख चूसते गए और छिलके फेकते गए। महारानी ने कहा—छिलकों को लाओ, जलाओ और रसोई बनाओ। धुआ भी नहीं हुआ और रसोई भी बन गई। राजा ने बड़ी महारानी से पूछा—'क्या रसोई बन गई ?'

'महाराज। आप कभी-कभी उल्टी बात कह देते हैं। रसोई बने कैसे ? ईंधन होता तो रसोई बन जाती। ईख से इतना धुआ हो गया कि रसोई नहीं बनी।' राजा ने छोटी महारानी से पूछा—'रसोई तैयार है ?' 'हा, महाराज। तैयार है।' 'यह कैसे हो सकता है ? तुम्हारी बडी बहन कह रही है—इतना धुआ हो गया कि रसोई नहीं बन सकी।' 'महाराज। इनकी बात भी ठीक है और मेरी बात भी ठीक है।' 'धुआ हुआ या नहीं ?' 'नहीं हुआ।' 'क्यों नहीं हुआ ?' 'धुआ वहा होता है जहा व्यक्ति रस दूसरे को देना नहीं जानता। जो दूसरे को रस देना जानता है, उसके यहा धुआ कभी नहीं होता।'

कितनी मर्म की बात कह दी—जो रस दूसरों को देना जानता है, उसके यहां धुआ नहीं होता। जो दूसरों को कुछ देना नहीं जानता, अपने में ही सारा रस निचोड लेना, सोख लेना चाहता है, वहा धुआ होता है। मैत्री का प्रायोगिक अर्थ है—दूसरे के हित की भी चिता करो। अपना हित और दूसरे का हित—दोनों के हितों की चिता करो। अपना हित बिगाड़कर कोई आदमी दूसरे का हित नहीं साध सकता। दूसरे के हित की चिता किए बिना भी कोई व्यक्ति अपना हित नहीं साध सकता। यह प्रकृति का अटल नियम है। हित साधना करनी है तो अपना हित भी सामने रखो और दूसरों का हित भी। यही मैत्री का प्रायोगिक और व्यावहारिक रूप बन सकता है।

हम मैत्री के व्यावहारिक प्रयोग पर चितन करें कि मैत्री का विकास कैसे हो ? जो लोग अज्ञानी हैं उन्हें ज्ञान देने का प्रयोग करो। जो लोग जानते हैं और जानते हुए भी गलत रास्ते पर जा रहे हैं, मूढ हैं, मोहग्रस्त हैं, उनकी मूढ़ता दूर करो। एक होता है मूढ और एक होता है मूर्ख। मूर्ख वह होता है जो अज्ञानी है, जानता नहीं है। मूढ वह होता है, जो जानता है पर जानते हुए भी बुराई करता है। मूढ आदमी के मोह को मिटाने का प्रयत्न करो। जो शक्तिहीन है उसे सहारा दो। यह मैत्री का व्यावहारिक प्रयोग है।

व्यावहारिक प्रयोग से ही मैत्री का सिद्धात व्यापक बनता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—किसी को कष्ट न पहुचाना, किसी का अहित न करना, किसी को हानि न पहुचाना, सबसे बड़ी मैत्री है। सबके साथ हम यही मैत्री कर सकते हैं। यह प्रायोगिक मैत्री है। कोई व्यक्ति सब जीवों के साथ मैत्री नहीं कर सकता। उसकी सीमा होगी। कुछ व्यक्तियो को पढाया, कुछ को तैयार किया, किसी का हित साधन किया। जो हित साधन वाली मैत्री है वह सीमा की मैत्री होगी, किन्तु दूसरों को कष्ट न देना, हानि न पहुचाना, क्षति न देना, यह मैत्री सार्वजनिक मैत्री है, सबके साथ होने वाली मैत्री है। हम मैत्री के व्यापक अर्थ को समझें और मैत्री का यथाशक्ति प्रयोग करें। मैत्री का सिद्धात अपने मस्तिष्क में अमृत तुल्य रसायन बनाने का सिद्धात है। इस बात को खूब गहराई से समझ लें कि मैत्री के बिना हम अपना कल्याण नहीं कर सकते, जीवन का कल्याण नहीं कर सकते।

87

सब हैं अपने समान

प्रेक्षाध्यान का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है– *'अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्ति भूएसु कप्पए'*– स्वय सत्य खोजें, सबके साथ मैत्री करें। इस छोटे से सूत्र में पूरा दर्शन समाया हुआ है। हर आदमी में मिथ्या धारणाए होती हैं। वह उनके आधार पर चलता है। सत्य की खोज करने वाला सही बात तक पहुच जाता है। सत्य की खोज का एक परिणाम है–मैत्री। यह मेरा शत्रु है, यह मेरा विरोधी है। यह मेरी आलोचना करने वाला है। यह मेरी निदा करने वाला है। यह मेरी चुगली करने वाला है।

मनुष्य ने अनेक धारणाओ से अपनी जिन्दगी को कबाडखाने तुल्य बना लिया है। वह हर किसी को देखता है तो संदेह की दृष्टि से देखता है। एक व्यक्ति के थोडा-सा मस्तिष्क का ततु ढीला हो गया था। दो व्यक्ति बात करते और वह मेरे पास आता। आकर कहता कि वे मेरे बारे में बात कर रहे हैं। एक बार, दो बार, दस बार कहा। मैंने कहा–'क्या सारी दुनिया निकम्मी है जो तुम्हारे बारे में ही बात करेगी? क्या उनके पास और कोई काम नहीं है?'

नकारात्मक भाव, मिथ्या धारणाए, व्यक्ति को दुर्बल बनाती हैं, कमजोर बनाती हैं। सचाई क्या है? सचाई का प्रतिपादन भगवान महावीर ने किया–सब जीवों को अपने समान समझो। सब आत्माओ को अपने समान समझो। जैन दर्शन में इसी का नाम है मैत्री। मैत्री का अर्थ है–सब आत्माओं को अपने समान समझना। आत्मतुला का सिद्धात मैत्री का सिद्धात है। जो सब जीवो को अपने समान नहीं समझता वहा व्यावहारिक मैत्री होती है। प्रत्येक शब्द का संदर्भ और विषय के साथ अर्थ बदल जाता है। व्यवहार की भूमिका में मैत्री का अर्थ दूसरा है। मित्र कौन है? मित्र के लक्षण क्या हैं? सस्कृत साहित्य में मित्र के छह लक्षण बतलाए हैं

"ददाति प्रतिगृह्णाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव, षड्विध मैत्रिलक्षणम्।।"

मित्र का पहला लक्षण है–ददाति, जो देता है। मित्र का दूसरा लक्षण है– प्रतिगृह्णाति, जो लेता है। मित्र का तीसरा लक्षण है–गुह्यमाख्याति, अपने मन की गुप्त बात बता देता है। मित्र का चौथा लक्षण है–पृच्छति, मन की गुप्त बात पूछता है।

बहुत वर्ष पहले दिल्ली में हमने मैत्री सघ देखा। रावी उसके सचालक थे। अच्छे विद्वान् आदमी थे। उनसे पूछा–आप मैत्री सघ क्यों चला रहे हैं? रावी ने उत्तर दिया–

इसलिए चला रहे हैं कि बहुत लोग अपने मन की बात किसी को कह नहीं पाते। मन ही मन घुटते रहते हैं। बडी परेशानी होती है। हमने ऐसा एक मैत्री सघ बना लिया। सब मिलो और अपने मन की सारी बात सघ में उगल दो। सकोच मत करो, अच्छी या बुरी, जो भी बात मन में है, बता दो। इससे मन का भार कम हो जाता है, हल्का हो जाता है। मनुष्य के मन की ग्रथियो को खोलने के लिए हम मैत्री संघ का सचालन कर रहे हैं। बात ठीक है कि जहा मैत्री होती है वहां सकोच नहीं होता, आशका नहीं होती, भय नहीं होता। वहा विश्वास होता है कि चाहे कुछ भी हो, अनर्थ नहीं होगा।

इसलिए ठीक ही कहा है—मित्र को अपने मन की गुप्त बात बता देता है और मित्र के मन की गुप्त बात पूछ लेता है। रामायण का प्रसग है। राजा ने देखा—मत्री बहुत उदास रहता है। उनमें परस्पर राजा और मत्री का सबध ही नहीं था, प्रगाढ मैत्री सबध भी था। राजा ने पूछा—'मत्री! इतने उदास क्यो हो? क्या कोई परेशानी है? क्या कोई चिता है? तुम खुलकर बात बता दो।' मत्री सकुचा गया, बोला—'नहीं, कुछ नहीं है।' पांच-सात दिन बीत गए। राजा यह देख चिंताकुल हो गया कि मंत्री का शरीर सूखता जा रहा है।। राजा ने सोचा—आखिर बात क्या है, मत्री बहुत बुद्धिमान है, मेरा अभिन्न मित्र है। इसके मन में कोई न कोई गाठ जरूर है। जब तक गाठ नहीं खुलेगी, इसकी बीमारी नहीं मिटेगी।

राजा ने बहुत बलपूर्वक कहा—'मत्री! तुम केवल मत्री ही नहीं हो, मेरे मित्र भी हो। राजा के नहीं, अपने मित्र के सामने खडे हो। तुम्हें अपने मित्र को अपने मन की बात बतानी होगी।' राजा ने बहुत आग्रह किया, तब मत्री बोला—'महाराज! बात बताने जैसी नहीं है। न पूछें तो अच्छा है। यह उचित नहीं होगा और ठीक नहीं रहेगा।' राजा ने कहा—'अगर तुम्हारे मन में खिचाव है, दुराव है, अलगाव है तो मित्रता कहा रही, फिर तो दूरी हो गई। हम अलग हो गए। अगर तुम मुझे मित्र मानते हो तो तुम्हें सब कुछ सरलता से बताना होगा।'

मत्री की आखें लज्जा से नत हो गई। उसने अवरुद्ध गले से कहा—'महाराज! क्या बताऊँ? पता नहीं क्या हुआ? मेरे मन में महारानी के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो गई है और इसीलिए यह सारी समस्या पैदा हुई है।' क्या यह बात एक मत्री राजा को कह सकता है? नहीं कह सकता, किन्तु जहा मैत्री होती है वहा गुह्य बात कह भी देता है और पूछ भी लेता है।

मित्र का पाचवा लक्षण है—अपने मित्र के घर जाकर भोजन करना। छठा लक्षण है—मित्र को अपने घर बुलाकर भोजन कराना। मित्रता के ये छह लक्षण माने गए हैं। यह व्यावहारिक मैत्री है, लौकिक मैत्री है। यह मैंत्री सबके साथ नहीं हो सकती। एक के साथ, दो के साथ, दस के साथ हो सकती है, सबके साथ नहीं।

मैत्री का विराट एव वास्तविक सिद्धात आत्मतुला का सिद्धात है। इसमें सब जीवों के साथ मैत्री होती है, कोई भी प्राणी शेष नहीं बचता। अगर एक भी वच गया तो वह

मैत्री नहीं है। अभीचिकुमार ने कहा—उद्रायण को छोड़कर मेरा सबसे खमत-खामणा है। मैत्री समाप्त हो गई। मित्रता नहीं रही। गति का बदलाव हो गया। जहा एक भी बच जाता है वहा मैत्री नहीं होती, कोई अन्य सबध हो जाता है। मैत्री सबके साथ होती है—यह है आध्यात्मिक मैत्री का सिद्धात, आत्मतुला का सिद्धात।

प्रेक्षाध्यान की उपसपदा का एक सूत्र है—मैत्री। प्रश्न होता है—मैत्री क्यों? इसका क्या अर्थ है? लगता तो ऐसा है कि मैत्री का सबंध दूसरों के लिए है। अनेक विचारकों, कवियों ने लिखा भी है।

उपाध्याय विनय विजय ने लिखा है—'मैत्री परेषा हितचिन्तन यत्—मैत्री का अर्थ है दूसरो का हित चितन करना। यह मैत्री की एक परिभाषा है। दूसरों का हित सोचना मैत्री है। यदि कोई दूसरो का हित नहीं सोचता, हित नहीं करता तो क्या शत्रुता हो जाएगी? यह नहीं कहा जा सकता। मैत्री का वास्तविक अर्थ है सबके प्रति आत्मतुला की भावना। दूसरो का हित-चितन करना मैत्री है, इसके साथ इतना और जोड़ देना चाहिए—अपना हित चितन करना भी मैत्री है। जो व्यक्ति अपना हित सोचता है, वह कभी वैर-विरोध के मार्ग में नहीं जाता। वर्तमान मनोविज्ञान को समझ लें तो यह बात समझ में आ जाएगी। आज की मन·चिकित्सा के सिद्धात को समझ लें तो यह बात समझ में आ जाएगी। दूसरो का अहित चिंतन करना एक निषेधात्मक भाव है। वह भाव अपना अहित ज्यादा करता है।

मस्तिष्क विद्या के अनुसार हमारे मस्तिष्क में अनेक रसायन पैदा होते हैं। उनमें कुछ रसायन विष तुल्य होते हैं और कुछ रसायन अमृत तुल्य।

शरीर को पोषण देने वाले रसायन अमृत के समान होते है। आप यह न माने कि जो बाहर से खाते है उसके द्वारा सारा काम चलता है। जो बाहर से खाते हैं, वह तो मात्र तीस अथवा चालीस प्रतिशत है। साठ अथवा सत्तर प्रतिशत काम भीतर के रसायनो से चलता है आपका शरीर सैकडो प्रकार के रसायन बनाता है। अनेक प्रकार के प्रोटीन्स बनाता है, अनेक प्रकार के विटामिन्स बनाता है। एक बडा कारखाना हर व्यक्ति के शरीर मे चल रहा है।

विज्ञान जगत का एक प्रसिद्ध शब्द है—एन्डोरफिन रसायन। जब कष्ट आता है उस समय बडी पीडा होती है। वह पीडा सहन नही की जा सकती। उसी वक्त शरीर एन्डोरफिन नाम का रसायन मस्तिष्क मे पैदा करता है, पीडा गायब हो जाती है। हमारा शरीर शामक औषधिया और पेन किलर भी पैदा करता है। बाहर से ग्लूकोज दिया जाता है पर शरीर स्वय ग्लूकोज पैदा करता है। शरीर अनेक प्रकार के रसायन पैदा करता है। आपके मन मे किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति बुरा भाव आया, बुरा विचार आया तो आपका मस्तिष्क ऐसा रसायन पैदा करेगा, जो आपके शरीर को ही हानि पहुचाएगा।

वेर-विरोध करने वाला किसी दूसरे का अहित नहीं करता, अपना ही करता हे। सामने वाले का अहित हुआ या नहीं, कहा नहीं जा सकता किन्तु अपना अहित तो निश्चित हे।

आज की मस्तिष्क विद्या का, मनोविज्ञान का सारा सदर्भ देखते हें तो महावीर का वह वचन याद आता ह–कोई आदमी पाप नहीं करता आर इसलिए नहीं करता कि उससे कर्म का वध हो जाएगा। कर्म के वध की वात भी छोड दे पर दूसरे की वुराई करने मे, दूसरे का अहित करने मे तुम्हारा अहित निश्चित हे, इसमे कोई सदेह नहीं है। दूसरे के साथ वर करते हो, विरोध करते हो, दूसरे का अनिप्ट करते हो तो तुम्हारा अहित पहले ही हो जाएगा।

दूसरे की वुराई करने मे जो आदमी आतक देखता हे वह पाप नहीं करता, वुराई नहीं करता। हम इस वात पर फिर गहराई से ध्यान दे कि वेर का विचार दिमाग मे आया, विरोध का भाव दिमाग मे आया, मस्तिष्क मे जहर पेदा होगा। वह जहर शरीर को सुखाने लग जाएगा, वीमारी पेदा कर देगा। ईर्ष्या का भाव मन मे आया ओर पेट मे अल्सर हो जाता ह। अल्सर किसने पदा किया ?

ज्यादा मिर्च नहीं खाई, ज्यादा खट्टी चीजे नहीं खाई, सम्यक् खान-पान चल रहा है फिर भी अल्सर क्यों ? ईर्ष्या की भावना, जलन ओर कुढन मन मे हुई ओर अल्सर की वीमारी हो गई। ये जितनी मनोकायिक वीमारिया होती हं, हमारे वुरे विचारो ओर वुरी भावनाओं के कारण होती हैं। इस वात को समझ ले तो मेत्री का सारा सदर्भ समझ मे आएगा। हम किसी के साथ वेर-विरोध न करं ओर इसलिए न करे कि वह वेर का विचार, विरोध का विचार स्वय को ही हानि पहुचाएगा। यह मेत्री का सिद्धात वडा महत्त्वपूर्ण सिद्धात वन जाता हे, अपने हित का सिद्धात वन जाता हे।

अच्छी वात सोचो, अच्छा काम करो, अच्छी भावना करो। वुरा विकल्प न करो, वुरी वात न सोचो, अपने प्रति भी ओर दूसरो के प्रति भी। न आत्महत्या की बात सोचो और न दूसरे की हत्या की वात सोचो। किसी के प्रति असद् भावना मत करो। यह सारा मैत्री का सिद्धात हे। जेन दर्शन की भापा मे इसे मेत्री की अपेक्षा आत्मतुला का सिद्धात कहना ज्यादा अच्छा है। सवको अपने समान मानो, यह मैत्री का दार्शनिक पक्ष है। वर्तमान युग मे व्यावहारिक रूप ज्यादा महत्त्वपूर्ण हे। आज वैज्ञानिक युग है इसलिए दर्शन प्रायोगिक होना चाहिए, कोरा आकाशी उडान नही होनी चाहिए।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री महाप्रज्ञ क्रान्तदृष्टा भगवान् महावीर की गौरवमयी आध्यात्मिक परम्परा के यशस्वी सवाहक है। 14 जून, 1920 आषाढ कृष्ण त्रयोदशी को राजस्थान के टमकोर ग्राम मे जन्मे आचार्य महाप्रज्ञ को उनके गुरु गणाधिपति तुलसी ने 5 फरवरी, 1995 को जैन तेरापथ धर्मसघ के दसवे आचार्य के रूप मे अपना उत्तराधिकार पद देते हुए कहा था "मेरे जीवन की सबसे बडी उपलब्धि है-मेरे उत्तराधिकारी आचार्य महाप्रज्ञ, जो ज्ञान ओर प्रज्ञा के साथ-साथ दिव्य-प्रतिभा के धनी हैं। मुझे विश्वास है, उनके द्वारा प्रसारित अध्यात्म की ऊर्जा कुछ ही वर्षों मे सहस्रगुणी होकर मानव जाति का गौरव बढाएगी।" गणाधिपति तुलसी की वाणी के अनुरूप ही आचार्य महाप्रज्ञ आज अध्यात्म जगत के शिखर-पुरुष के रूप मे प्रतिष्ठित हैं।

महाप्रज्ञजी का एक और विशिष्ट गुण है—वे एक सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी सम्प्रदायातीत हैं। वस्तुत, वे एक उत्कृष्ट कोटि के ध्यान योगी हैं, अतीन्द्रिय ज्ञान के धनी, उदात्त चेतना से सम्पन्न एक ऐसे सत ह जिन्होने धर्म को पुन परिभाषित कर लाखो लोगो को अच्छा जीवन जीने की प्रेरणा दी है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अनुभव किया कि आध्यात्मिक एव नैतिक मूल्यो से शून्य कोई भी राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता। स्वस्थ समाज की सरचना के लिए उन्होने ध्यान की नई तकनीक विकसित की जो 'प्रेक्षाध्यान' के नाम से लोकप्रिय हे। वालको मे भावनात्मक वुद्धि की अभिवृद्धि तथा शाति एव अहिसा की सस्कृति के पोषण के लिए उन्होने 'जीवन विज्ञान' का प्रतिपादन किया। उनके तत्त्वावधान मे अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान एव जीवन-विज्ञान की त्रिपदी से लाखो लोग स्वत रूपान्तरित हो रहे हैं।

राष्ट्रकवि रामधारीसिह 'दिनकर' उनके मोलिक चिन्तन मे स्वामी विवेकानन्द की छवि देखते हैं तो बाग्ला के प्रख्यात साहित्यकार विमल मित्र उनके लेखन से अभिभूत होकर कहते हैं कि महाप्रज्ञ की वाणी ओर लेखनी मेरे लिए दीपक की तरह हे।

आचार्य महाप्रज्ञ ने सूक्ष्म ससार मे डुवकी लगाई हे, उसकी गहराइयो को नापा हे आर उसकी अनन्तता को समझा हे। उनके प्रवचनो एव ग्रथो मे उसी अनुभूति की अभिव्यक्ति हे। वे निरतर प्रज्ञा के इस सोरभ को प्रसारित कर रहे हें तथा उनका आभा-मडल सूक्ष्म ससार की रश्मियो से सदा आलोकित हे। अव तक उन्होने 200 मे अधिक ग्रथो की रचना की हे, जिनका वेश्विक स्तर पर एक विशाल पाठक-ससार हे।

महावीर ने कहा था—स्वय सत्य खोजो। आचार्य महाप्रज्ञ के चिन्तनप्रसूत आलेखा से प्रत्यक्ष अनुभव होता हे कि उन्होने सत्य को पा लिया हे आर वे उसको वर्तमान युग के कल्याणकारी भविष्य के साथ जोडकर युगसत्य की स्थापना कर रहे हें।

राजस्थान-पत्रिका